Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम

12-4-67

111059

[illegible]

दिसंबर १९६६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

111059
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[illegible] हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार [illegible] से भेंट

दिसंबर, १९६६

माध्यम

निमित्तमात्रं भव

वर्ष ३ : अंक ८
पूर्णांक : ३२

संपादक
बालकृष्ण राव

सहायक संपादक
वैकुंठनाथ मेहरोत्रा
श्रीराम वर्मा

संपादकीय पता
पोस्ट बॉक्स नं० ६०
इलाहाबाद

प्रबंध संपादक
रामप्रताप त्रिपाठी

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति : एक रुपया पचीस पैसा
वार्षिक : बारह रुपया पचास पैसा

लेख

साहित्य में नया चिंतन ३ इन्द्रनाथ मदान
आधुनिक हिंदी-उर्दू कविता में प्रेमविषयक दृष्टिकोण ६ सुधेश
'जिगर' के काव्य में प्रेम की परिकल्पना १५ नूर नक़वी
आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ४५ कस्तूरचन्द जैन
जीवन की अदृश्य जड़ें ४९ आचार्य रजनीश

यात्रा-वृत्त

लखनऊ से कालिंपोंग तक ६० प्रेमशंकर

कविताएँ

खजुराहो २२ पोद्दार रामावतार अरुण
सवक्तव्य तीन कविताएँ २४ कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह
मुझे बाँधे है ३० श्यामसुन्दर घोष
दर्द ३१ राम जी सिंह
दो कविताएँ ३४ नारायण बोडस
एक कविता ३५ नीहारिका बनर्जी

कहानियाँ

ज़्यादती ३६ पानू खोलिया
हम दोनों ५२ ज्योत्स्ना देवधर

सहवर्ती साहित्य

श्री अनंत काणेकर और उनके एकांकी ६८ मदनमोहन शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम

अंक ३३ में

- उपेन्द्रनाथ अश्क, रमेश कुंतल मेघ तथा एम० जॉर्ज के लेख
- देवराज तथा ऋतुराज की कविताएँ
- कुमार विमल तथा अशोक कण्डवाल की कहानियाँ
- नागेश्वर लाल द्वारा रघुवीर सहाय की कृति 'सीढ़ियों पर धूप में' की विवेचना

एकसमीक्षक (कविता) ७३ मंगेश पाडगाँवकर
पद-यात्रा (,,) ७४ इंदिरा
कानों तक (,,) ७५ आरती प्रभु
नियति (,,) ७६ एस० जी० अकोलकर
स्वांत (,,) ७७ आ० रा० देशपांडे 'अनिल'
आर्फ़ियस (कहानी) ७७ दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे

विवेचना

समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती ८१ बच्चन सिंह
'विवेचना' : वार्षिकोत्सव ८९ विवेचक
नयी दिल्ली में आयोजित साहित्य-परिसंवाद ९५ अवनींद्र कुमार विद्यालंकार

समीक्षाएँ

आलोचक की आस्था १०० विश्वम्भर 'मानव'
रसरंग १०४ कृष्णनंदन 'पीयूष'
वियोग १०५ ,, ,,
गीली आँखें १०५ ,, ,,
नये शिशु का जन्म १०६ सियाराम तिवारी
चमगादड़ १०७ मोहन अवस्थी
पद्माकर १०९ रामेश्वर दयाल दुबे

पत्र-प्रतिक्रियाएँ ११०

आवरण-सज्जा : दीनानाथ सरोदे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रनाथ मदान

साहित्य में नया चिंतन

कुछ सालों से नये चिंतन की बात को इतना क्यों दोहराया जा रहा है, इस सवाल को बार-बार क्यों उठाया जा रहा है ? हर वाद और हर विधा के साथ नया शब्द जुड़ने लगा है—जैसे, नव-यथार्थवाद, नव-स्वच्छंदतावाद, नव-मार्क्सवाद, नव-ज्ञानवाद और नयी कविता, नयी कहानी और नयी आलोचना। अभी उपन्यास और नाटक को नया कहने से परहेज किया गया है। आज के साहित्य में नये चिंतन को भी खोजा और आँका जाने लगा है। इस खोज का राज़ क्या है ? इस खोज के बाद नया पुराना हो कर अन्य विशेषणों के अन्वेषण में व्यस्त होने लगता है—अकविता, अकहानी में बदल रहा है। अभी तक नया चिंतन अचिंतन में परिणत नहीं हुआ है। यह केवल साहित्य के क्षेत्र में नहीं हो रहा है, साहित्य के बाहर भी इस प्रक्रिया को आँका जा सकता है। पैसा एक बार नया हो कर फिर पैसा बन गया है। इसी तरह माप और तोल के आधार भी नये हो गये हैं—किलो, लिटर और मीटर में बदल गये हैं। इन सबका रहस्य क्या है ? अस्ल में यह आधुनिकता की चुनौती के सामना करने का परिणाम है, जो एक मूल्य न हो कर एक प्रक्रिया है, जिसके मूल में प्रश्न-चिह्न की निरंतरता है। यह प्रश्न-चिह्न वैज्ञानिक दृष्टि की देन है जो किसी मूल्य या सत्य को उसके चरम या शाश्वत रूप में स्वीकारने से परहेज़ करती है, मध्यकालीन बोध का निषेध करती है। इस बोध के अनुसार देश और काल शाश्वत हैं, परंतु आधुनिकता देश और काल की इस धारणा को खंडित करती है। आज देश और काल देश-काल की धारणा में बदल चुके हैं, सत्य की शाश्वतता उसकी सापेक्षता में ढल चुकी है। आज के चिंतन में यह एक क्रांति है जो इसे नया बनाती है। यह आधुनिकता की चुनौती का परिणाम है और आधुनिकता की प्रक्रिया जब अवरुद्ध होने लगती है, तो इसकी परिणति आधुनिकवाद में हो जाती है, लक्षणबद्ध रूप धारण करती है, स्थितिशील होने का आभास देने लगती है।

यदि आज के हिंदी साहित्य को इसका आधार बनाया जाय, तो इसे कविता, कहानी, उपन्यास तथा आलोचना में आँका जा सकता है। इस नये चिंतन को इसके शुद्ध रूप में आँकना भी इसलिए असंगत है कि साहित्य में चिंतन संवेदना में बदल जाता है। यदि चिंतन अपने शुद्ध रूप में साहित्य में उपलब्ध होता है, तो यह इसमें व्याप्त होने की बजाय इस पर आरोपित हो सकता है, कृति का अभिन्न अंग न हो कर इस पर चिपकाये जाने का आभास देने लगता है। इसलिए नया चिंतन, यदि वह साहित्य में है, सर्जन-प्रक्रिया की संगति में बैठ सकता है, तबले की संगत दे सकता है। यदि साहित्य से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशय सर्जनात्मक साहित्य है, तो इसमें नये चिंतन को इसके संवेदनात्मक स्तर पर आँकना अपेक्षित है। यह नया चिंतन क्या है और कैसे है? मुझे लगता है कि आधुनिकता की प्रक्रिया कविता, कहानी, उपन्यास तथा आलोचना में एक अर्से से जारी है। यह कभी स्थितिशील और कभी गतिशील, कभी जड़ और कभी मध्यकालीनता से सामंजस्य तथा समझौता स्थापित करने में संलग्न रही है। मध्यकालीनता की भी निजी प्रक्रिया थी, जो देश और काल के अपने दायरे में कभी स्थितिशील तो कभी गतिशील रही है। इसका यहाँ केवल संकेत ही दिया जा सकता है। आधुनिकता की प्रक्रिया छायावाद के पहले सुधार और पुनरुत्थान के युग में अपने सीमित रूप में क्रियाशील है, यह भारतेंदु आदि में सुधार के रूप में और मैथिलीशरण गुप्त आदि में पुनरुत्थान के रूप में मध्यकालीनता से आदर्श के धरातल पर समझौता करने में व्यस्त है, जो छायावाद में आ कर टूटने लगता है। इसलिए छायावाद का एक पक्ष विद्रोहात्मक है, जिसके मूल में वैयक्तिक मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास है। इस काव्य में भी आधुनिकता और मध्यकालीनता में आदर्श के धरातल पर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न है, अद्वैतवाद या समरसतावाद की व्यक्तिमूलक व्याख्या है। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की रचनाओं में इस प्रयास को आँका जा सकता है। प्रसाद ने मनु के माध्यम से आधुनिकता की समस्या को उठा कर श्रद्धा द्वारा इसका मध्यकालीन समाधान 'कामायनी' के अंत में दिया है, जो असफल सिद्ध हुआ है। इसलिए 'कामायनी' की कलात्मक असफलता को अंतिम तीन सर्गों के आरोपित होने में खोजा जा सकता है। निराला छायावादी रचनाओं में इन परस्परविरोधी बोधों में, पुराने और नये चिंतन में आदर्श के धरातल पर सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं, परंतु यथार्थ के स्तर पर यह सामंजस्य अस्त-व्यस्त होने लगता है। निराला का व्यक्तित्व तथा काव्य आधुनिकता तथा मध्यकालीनता के तनाव में विभाजित रहा है और इसने इनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व में सम तथा विषम स्वरों को ध्वनित किया है। इसलिए अंत में इन दोनों के बिखर जाने की साक्षी उपलब्ध होती है। इसी संदर्भ में यदि महादेवी के गीति-काव्य को आँका जाय और इनके प्रतीक-विधान का विश्लेषण किया जाय, तो इनके काव्य से रहस्य का पर्दा भी उठ जाता है, जो इनकी गद्य-रचनाओं में नहीं मिलता है। इस तरह महादेवी का व्यक्तित्व इनके गीतों तथा चलचित्रों में संश्लिष्ट रूप में सामने आ जाता है। पंत की आधुनिकता युगीन विचारधाराओं से समझौता करने में व्यस्त रही है और अंत में रहस्य के नीड़ में विश्राम करने के लिए बाधित है। छायावाद के बाद कविता आधुनिकता या नये चिंतन के सन्मुख है। इसलिए इसमें छटपटाहट का रंग गहरा है, अकुलाहट की रेखाएँ टेढ़ी हैं। इसकी अभिव्यक्ति 'तार सप्तक' की कविताओं में आँकी जा सकती है। इन कविताओं में जिस नये चिंतन की बात की जाती है, उसका संबंध पाश्चात्य चिंतन से है। मार्क्स, फ्रायड आदि के चिंतन की गहरी छाप इस पर अंकित है। पश्चिम के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस युग का कवि प्रभावित है। वह आधुनिकता की चुनौती को कभी संवेदना के स्तर पर और कभी वैचारिक धरातल पर स्वीकारता तथा नकारता है। जब वह इसे अपने परिवेश में और अपने संस्कारों को ले कर आत्मसात करता है, तो इसकी रचनाओं में सहजता आ जाती है, परंतु जब वह इस नये चिंतन को वैचारिक स्तर पर अपनाता है, तो यह कृत्रिम रूप में उसकी रचनाओं में झलकने लगता है। एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्से से पश्चिम के विचारकों तथा साहित्यकारों में मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद को ले कर बहस होती रही है। एक तरफ़ सार्त्र, कामू आदि ने सैद्धांतिक मार्क्सवादी चिंतन का विरोध किया है और दूसरी तरफ़ लूकाच, नोवाक आदि ने मार्क्सवादी दृष्टि से अस्तित्ववादी चिंतन का विश्लेषण तथा विरोध किया है, जिसका परिणाम यह निकला है कि दोनों के साथ नया शब्द जुड़ गया है, जिसके मूल में आधुनिकता की प्रक्रिया है, जो वाद में बँध कर मुक्त होने का आभास देती है।

आधुनिकता की प्रक्रिया जिसके मूल में युग का नया चिंतन है, युग की नयी संवेदना है हिंदी कथा-साहित्य में वल पकड़ने लगी है। मेरी दृष्टि में इसका सूत्रपात प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' और इनकी कहानी 'पूस की रात' तथा 'कफ़न' में होता है। इस उपन्यास में न केवल होरी का गोदान है, लेखक की सदनवादी और आश्रमवादी आस्था का भी गोदान है। इसी तरह 'पूस की रात' और 'कफ़न' में भी प्रेमचंद अपनी पुरानी आस्था खो बैठे हैं। इसलिए प्रश्नों का उत्तर देने से वह परहेज़ करते हैं। इनका बोध तथा चिंतन एक नया मोड़ लेता है, जिसकी सशक्त अभिव्यक्ति अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में उपलब्ध है। इस राह के अनेक राही हैं। यह नया चिंतन अपने विविध रूपों में तथा विभिन्न स्तरों पर आज के हिंदी उपन्यास में कभी व्याप्त है, तो कभी आरोपित। इसकी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति इने-गिने उपन्यासों में उपलब्ध है, जिनमें निर्मल वर्मा का 'वे दिन' हिंदी उपन्यास के तीसरे मोड़ का सूचक है। इसमें नया चिंतन संवेदना का अभिन्न अंग है, इसमें घुल-मिल जाता है। नये चिंतन या नयी संवेदना को ले कर उपन्यासों की गिनती जितनी कम है, कहानियों की उतनी ही अधिक है। आज की कहानी जीवन की जटिलता तथा संकुलता को अभिव्यक्ति देने का सशक्त माध्यम बन रही है। इसलिए इसने शिल्प के पुराने चौखटों को तोड़ दिया है, पुराने रूपों को फोड़ दिया है; पुराने मूल्यों को फेंक दिया है। यह अपनी नवलता और विविधता में नये से नये चिंतन को आत्मसात कर रही है, आधुनिकता से साक्षात कर रही है। इसलिए शायद बार-बार इसे नया नाम और रूप धारण करना पड़ रहा है। इस नये चिंतन और आधुनिकता के मूल में प्रश्न-चिह्न की निरंतरता और वैज्ञानिक दृष्टि है, जो किसी मूल्य या सत्य को उसके शाश्वत या चरम रूप में स्वीकार नहीं करती, जिसे 'अस्वीकृति की अस्वीकृति' कहा जा सकता है।

—५९५, सेक्टर १८,
चंडीगढ़–१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुधेश

आधुनिक हिंदी-उर्दू कविता में प्रेमविषयक दृष्टिकोण

प्रेम-भावना कविता का पुराना विषय है। सभी भाषाओं के काव्य-साहित्य में इसका मधुर संगीत मुखरित होता रहा है। १९वीं शताब्दी के अधिकांश पूर्व-भाग की हिंदी-उर्दू कविता प्रेम के अगाध सागर में डूबी रही। तत्कालीन प्रेम-भावना परंपरागत होने के अतिरिक्त सामाजिक मूल्यों के नकारात्मक स्वर से व्याप्त है। बीसवीं शताब्दी में आ कर हिंदी-उर्दू कवियों के प्रेमविषयक दृष्टिकोण में कई परिवर्तन आ गये।

हिंदी काव्य में प्रेम की कल्पना रीतिकाल और भारतेंदु युग की अपेक्षा अधिक विकसित एवं उदात्त हो गयी। प्रेम के कुत्सित, असामाजिक तथा कृत्रिम रूप के स्थान पर उसके संस्कृत, कल्याणकारी और नैसर्गिक पक्ष की ओर विशेष ध्यान दिया गया। प्रेम निम्न वासनाओं का अर्थ-बोधक न हो कर मानव की उदात्त वृत्तियों का प्रेरक समझा जाने लगा। तत्कालीक सुधार-चेतना का हिंदी कवियों की प्रेम-भावना पर अधिक प्रभाव पड़ा।

जयशंकर प्रसाद ने प्रेम की शुद्ध, संस्कृत कल्पना की :

> प्रेम-यज्ञ से स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
> तब तुम प्रियतम स्वर्ग-बिहारी होने का सुख पाओगे।
> प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
> इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे।[1]

लोचनप्रसाद पांडेय ने 'मानसोद्धार' कविता में प्रेम के कल्याणकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा की :

> सुखद सुमतिदाता प्रेम ही विश्व बीच,
> सुमति पथ दिखाता प्रेम ही विश्व बीच।
> कर-गत कर देता प्रेम चारों पदार्थ,
> सुध-बुध हर लेता प्रेम ही वह पदार्थ।[2]

---

१. 'प्रेमपथिक', द्वितीय संस्करण, पृ० १७।

२. 'सरस्वती', खंड १९, संख्या २, सन १९१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी कवियों ने प्रेम को मानव-जीवन की उच्च साधना और ईश्वर की आदि शक्ति समझा। एक ओर मानवतावादी दृष्टिकोण, दूसरी ओर ईश्वर-प्रेम की झलक उनकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में, हरिऔध के 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास' में, रामनरेश त्रिपाठी के काव्य 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' में मानवतावादी आदर्शों की प्रतिष्ठा कर के प्रेम के उसी उदात्त रूप का समर्थन किया गया है, जिसमें स्वार्थ की गंध नहीं होती और आत्म-त्याग की भावना भरी होती है। 'साकेत' की उर्मिला और सीता, 'प्रियप्रवास' की राधा, 'वैदेही-वनवास' की सीता में लोकसेवानुरक्त, तपस्विनी नारियों के दर्शन होते हैं। रामनरेश त्रिपाठी के प्रेम-काव्यों में भी ऐसी नायिकाओं का वर्णन है, जो गार्हस्थ जीवन के सुखों को त्याग देश-सेवा में व्यस्त हैं। हिंदी कवियों ने प्रेम को सृष्टि का आधार और 'ईश्वर का रूप' समझा।

जयशंकर प्रसाद कहते हैं :

प्रेम जगत का चालक है, इसके आकर्षण से खिंच के,
मिट्टी वा जलपिंड सभी दिन-रात किया करते फेरा।
इसकी गरमी, मरु, धरणी, गिरि, सिंधु सभी निज अंतर में--
रखते हैं आनंदसहित, है इसका अमित प्रभाव महा।[1]

रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं :

गंधविहीन फूल है जैसे चंद्र चंद्रिकाहीन,
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेमविहीन।
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक, अशोक,
ईश्वर का प्रतिबिंब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक।[2]

मैथिलीशरण गुप्त प्रणय के वासनारहित उज्वल पक्ष की ओर लक्ष्मण द्वारा उर्मिला से कहे कथन में यों संकेत करते हैं :

बलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर, मर रही है, जी रही है सृष्टि भर,
भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त भी, शून्यता नभ की, सलिल, आवर्त भी।
प्रेयसी, किसके सहज संसर्ग से दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से।[3]

गोपालशरण सिंह प्रेम को जगत के प्रथम 'कल्पित सुरपुर' की संज्ञा देते हैं :

प्रथम चेतना चेतन जग की, प्रथम ज्ञान के मृदु अंकुर,
हो तुम उर के प्रथम प्रकंपन, प्रथम जगत-कल्पित-सुरपुर।[4]

---

१. 'प्रेमपथिक, द्वितीय संस्करण, पृ० १७, २. 'मिलन', पंचम संस्करण, पृ० २३, ३. 'साकेत', प्रथम सर्ग, ४. 'आधुनिक कवि', भाग-४, तृतीय संस्करण पृ० २५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम के मानवतावादी पक्ष की ओर भी गोपालशरण सिंह ने संकेत किया :

जहाँ सुनायी पड़ा विश्व में दुःख दीनता का क्रंदन,
जहाँ दिखायी पड़ी मनुजता जग-उत्पीड़न से उन्मन,
वहाँ तुम्हारी हुई पुकार, अहे प्रेम जग-जीवन सार।[1]

प्रेम के उदात्तीकरण की इस प्रवृत्ति के पीछे किसी स्वप्न-लोक के अतिमानवों के प्रति हिंदी कवियों की रुचि नहीं थी, वरन इसका आधार लौकिक प्रेम ही था।[2] ईश्वरीय शक्तियों अथवा अवतारों को उन्होंने प्रायः मानव रूप में ही देखा।[3]

कवियों की यह लौकिक प्रेम-भावना दो व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध के स्तर पर तो विशुद्ध हो कर सामने आयी ही, इसका विकास विश्व-प्रेम तक हो गया। प्रसाद जी ने लिखा :

स्वच्छंद बनो, आंतरिक प्रेम में रमण करो हो कर निष्काम,
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित हो कर
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में. विश्व स्वयं ही ईश्वर है।
× × ×
किंतु न परिमित करो प्रेम, सौहार्द विश्वव्यापी कर दो।[4]

हरिऔध जी ने भी 'प्रियप्रवास' में राधा के माध्यम से प्रेम के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना की है और उसकी परिणति विश्व-प्रेम में हुई है। राधा का चित्र कवि ने इस प्रकार खींचा है :

---

१. (क) वही—पृष्ठ २९।
(ख) मिल जाय तरुणता मेरी जग के अनंत यौवन से,
लय हो मेरा लघु जीवन जग के विशाल जीवन में।
(गोपालशरण सिंह, वही, पृ० ३६)

२. डॉ० रामेश्वरलाल खंडेलवाल लिखते हैं : इस के मूल में जीवन की यथार्थता, स्थूल का नवोदित महत्व तथा विज्ञान की पदार्थमूलक प्रेरणा बहुत सूक्ष्मता से काम करती हुई दिखायी पड़ रही है।
(आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और सौंदर्य, सन १९५८ का संस्करण, पृ० ३५८)

३. मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' की इस पंक्ति—'राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?' के आधार पर डॉ० उदयभान सिंह ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गुप्त जी 'राम' को ईश्वर ही मानते थे, मानव नहीं। पर द्विवेदी काल में अवतारों के मानवीकरण की प्रवृत्ति बिल्कुल स्पष्ट है।—लेखक।

४. 'प्रेमपथिक', द्वितीय संस्करण, पृ० २४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे छाया थीं सु-मन शिर की, शासिका थी खलों की,
कंगालों की परमनिधि थीं औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं भगिनि, जननी थीं अनाथाश्रितों की,
आराध्या थीं ब्रज-अवनि की, प्रेमिका विश्व की थीं।[1]

उर्दू-काव्य में प्रेमविषयक धारणाओं में उस प्रकार का क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ, जिस प्रकार हिंदी में। सन १८५७ ई० तक राजाओं-नवाबों के अंतःपुर में प्रतिष्ठित वासनात्मक प्रेम का उर्दू में बोलवाला रहा। ग़ज़ल के माध्यम से कवियों ने ख़ूब कीचड़ उछाला। दिल्ली और लखनऊ दरबार के शायरों की भाषा और वर्णन-शैली में अंतर अवश्य प्रतीत होता है, किंतु दोनों की शायरी 'दाख़िली' (वैयक्तिक भावनाओं, कुंठाओं का चित्रण करने वाली) थी।[2] उस युग में ग़ालिब एक ऐसा कवि है, जिसने 'ख़ारिजी शायरी' (सामाजिक, राजनीतिक आदि बाह्य विषयों एवं भावनाओं का वर्णन करने वाली कविता) की नींव डाली। तभी तो ग़ालिब को कहना पड़ा :

कुछ और चाहिए वसअत मेरे बयाँ के लिए।[3]

हाली और आज़ाद के युग में उर्दू कविता में जागरण आया। 'नज़्म' का प्रचार हुआ, नये विषयों की ओर कवियों का ध्यान गया लेकिन ग़ज़ल का प्रचार कम नहीं हुआ। 'हुस्नो इश्क़' (प्रेम व सौंदर्य) ग़ज़ल का प्रधान विषय रहे हैं, १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भी रहे। परंतु २०वीं शताब्दी में ग़ज़ल के क्षेत्र का बहुत विस्तार हो गया। इस प्रकार आधुनिक काल में प्रेमविषयक धारणाओं में भी परिवर्तन आने लगे। ये परिवर्तन हिंदी कवियों की प्रेम-भावना के नवीन आदर्शों से भिन्न हैं।

इस काल में शायरों ने 'ग़ज़ल' का आँचल तो नहीं छोड़ा, हाँ, उनका प्रेमपात्र (जिसकी चर्चा ग़ज़ल का प्रधान विषय है) काल्पनिक ऊँचाइयों से नीचे उतर कर धरती पर चलने-फिरने वाले इंसानों के बीच आ गया। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि उनका प्रेम काल्पनिक और अतिशयोक्तिपूर्ण न रह कर वास्तविक एवं संयमित प्रतीत होने लगा। उसमें हार्दिकता और

---

१. हरिऔध : 'प्रियप्रवास', तृतीय संस्करण, सप्तदश सर्ग, पृष्ठ २५६। २. दिल्ली की शायरी पर, 'मीर' की रचनाओं को छोड़ कर, फ़ारसी का अधिक प्रभाव था, और लखनऊ की शायरी रोज़ाना के मुहावरों तथा लोकप्रचलित साधारण भाषा का प्रतिनिधित्व करती थी। दिल्ली के शायर भाषा के माधुर्य पर अधिक ध्यान देते थे और लखनऊ के शायर भाषा के बनाव-सिंगार और काल्पनिक विषयों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने पर। भाव-पक्ष की दृष्टि से दोनों 'स्कूल' के शायर वैयक्तिक भावनाओं के प्रकटीकरण को बाह्य सामाजिक प्रश्नों की अवहेलना पर अधिक महत्व देते थे।---लेखक।

३. दीवाने ग़ालिब।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहराई आ गयी। ऐसा लगता है कि इस युग की उर्दू कविता में मानव-सुलभ प्रेम की अभिव्यंजना हुई। पिछले युग की अतिशयोक्तिपूर्ण शायरी को ध्यान में रख कर ही हाली ने कहा था:

वो दिन गये कि झूठ था ईमाने शायरी।[1]

'सुरूर' जहानाबादी ने भी प्रेम की परंपरागत कल्पना का विरोध इन शब्दों में किया :

अब तो कर दे मुर्गे दिल को दामे गेसू से रिहा,
सामने है खुशनुमा 'नेचर' के फूलों का चमन।[2]

दूसरा परिवर्तन प्रेमविषयक दृष्टिकोण में यह प्रतीत होता है कि अब प्रेमपात्र के रूप में नारी की प्रतिष्ठा हो गयी। 'सुरूर' जहानाबादी ने **फिराक़े नल में दमन की बेक़रारी, अदा-ए-शर्म, सीता की गिरया-ओ-जारी,** आदि नज़्मों में, शौक़ क़िदवई ने मसनवी **तराना-ए-शौक़** और **आलमे ख़याल** में और अज़मतुल्ला ख़ाँ ने अपनी स्फुट कविताओं में नारी प्रेमपात्र को प्रतिष्ठित ही नहीं किया, अपितु उनकी भावनाओं को भी वाणी दी। इस प्रकार उर्दू शायरी पर अप्राकृतिक प्रेम के महत्व-निरूपण का जो दोषारोपण किया जाता है, उसे दूर कर प्राकृतिक एवं समाजानुमोदित प्रेम के आदर्श का प्रचार इसी युग के कवियों द्वारा हुआ। हिंदी में प्रेमविषयक दृष्टिकोण के इस परिवर्तन की आवश्यकता न थी, क्योंकि हिंदी कविता में प्रेमपात्र के रूप में नारी की प्रतिष्ठा अनंत काल से चली आ रही थी। रीतिकालीन हिंदी कविता में नारी विलास का साधन बन गयी थी। इस दूषित परंपरा के संस्कार की आवश्यकता अवश्य थी, जिसे आधुनिक काल के कवियों ने पूरा किया।

तीसरा परिवर्तन उर्दू कविता में वर्णित प्रेम-भावना के क्षेत्र में यह हुआ कि स्थूल प्रेम के वर्णन में भी सभ्यता और सामाजिक नैतिकता का ध्यान रखा जाने लगा। लौकिक प्रेम के वर्णन में पहले कवि किसी सामाजिक अथवा नैतिक मर्यादा को स्वीकार नहीं करते थे। उन्हें कल्पना के पंखों पर चढ़ कर दूर की कौड़ी लाने की अधिक व्यग्रता रहती थी। लेकिन अब कुछ ऐसे उर्दू कवि सामने आये, जिन्होंने वैयक्तिक प्रेम को सामाजिक धरातल पर लाने का प्रयत्न किया। ऐसे कवियों में 'सुरूर' जहानाबादी, चकबस्त, 'हसरत' मोहानी और इक़बाल प्रमुख हैं। 'हसरत' ने इस बात को यों स्पष्ट किया :

तूने 'हसरत' की अयाँ तहज़ीबे रस्मे आशिक़ी,
इसके पहले एतबारे शाने रुसवाई न था।

× × ×

सौदा-ए-इश्क़ यार सलामत[3] की जा नहीं,
'हसरत' को पीरे-अक़्ल ये समझा रहा है क्या!

---

१. हाली, २. जामे सुरूर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११०, ३. निंदा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़ब से जान है पाबंदी-ए-आदाबे उल्फ़त से,
कि हर हर बात को दरपर्दा कहना फ़ी-उल-मसल[1] कहना।[2]

भौतिक प्रेम की सभ्यतापूर्ण कल्पना 'ग़ज़लगो शायरों' में सर्वप्रथम 'हसरत' मोहानी ने की। उनका विषय पुराना है अर्थात वही लौकिक प्रेम है, पर उनके काव्य में 'इश्क़ की शराफ़त का माहौल' है।[3] 'इश्क़ की शराफ़त का माहौल' का यह अर्थ नहीं कि उन्होंने स्थूल प्रेम के वर्णन से आँखें फेर ली हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश उर्दू कवियों का प्रेम स्थूल प्रेम है, जिसका आधार लौकिक प्रेमपात्र है। हिंदी कविता की द्विवेदीयुगीन प्रेम-भावना के मानदंडों से उर्दू कविता की प्रेम-भावना की परीक्षा करना उपयुक्त नहीं। हाली और आज़ाद के पहले की उर्दू शायरी में वर्णित स्थूल प्रेम, 'आज़ा परस्ती' (अंगों की पूजा) और विकृत, अस्वाभाविक, असामाजिक प्रेम के सिवाय कुछ नहीं था। उसकी तुलना में 'हसरत' मोहानी, 'फ़ानी' बदायूँनी, 'सुरूर' जहानाबादी आदि का स्थूल प्रेम बहुत कुछ स्वाभाविक, सामाजिक और 'इश्क़ की शराफ़त का माहौल' लिये हुए लगता है। इसी 'माहौल' (वातावरण) का यह प्रभाव है कि 'सुरूर' अपने प्रेमपात्र के सौंदर्य की कल्पना उसके प्रदर्शन में नहीं बल्कि दुराव में करते हैं :

'हुस्ने पिनहाँ[4] है चराग़े तहे दामा[5] तेरा
बर्क़ बेपर्दा है, पर्दे में तेरी जल्वागरी।[6]

प्रेमविषयक इसी दृष्टिकोण का प्रभाव 'अज़ीज़' लखनवी के इस शेर पर स्पष्ट है :

ज़ुल्फ़ खोली गयी थीं आज बड़े दावे से,
ख़ैरियत थी कि 'अज़ीज़' आपका वहशी न हुआ।[7]

इक़बाल ने स्थूल प्रेम से ऊपर उठ कर कहा :

हो दीद का जो शौक़ तो आँखों को बंद कर,
है देखना यही कि न देखा करे कोई।[8]

---

१. कहावत के ढंग पर संक्षेप में कहना। २. 'इंतख़ाबे हसरत', प्रथम संस्करण, (संपादक जलील क़िदवई), पृ० ३७ व ३९, ३. जलील क़िदवई की राय है—'उन्होंने ('हसरत' ने) ग़ज़ल से इश्क़ के ख़लूस, मासूमियत, दिलसाज़ी और सुपुर्दगी, यानी इश्क़ की शराफ़त का जो माहौल पेश किया है, वह एक नयी चीज़ है, और मीर के बाद हमारी शायरी में पहली बार आयी है। ('इंतख़ाबे हसरत' की भूमिका, पृ० २१, प्रथम संस्करण, सन १९५३, प्रकाशक : उर्दू एकेडेमी सिंध, बंदर रोड, कराँची)। ४. छिपा हुआ सौंदर्य। ५. आँचल की ओट। ६. सुरूर जहानाबादी : 'जामे सुरूर', प्रथम संस्करण, पृ० १६२, ७. अज़ीज़ लखनवी : 'गुल कद्रह', तृतीय संस्करण, सन १९३१ ई०, पृ० ९, ८. इक़बाल : 'बाँगेदरा', पंचम संस्करण, पृ० १०५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौथा परिवर्तन आधुनिक उर्दू शायरी की प्रेम-भावना में यह हुआ कि उसके उदात्त, मानवीय तथा अलौकिक पक्ष की चर्चा होने लगी। इक़बाल के काव्य में इसकी अभिव्यक्ति खुल कर हुई। उनकी दृष्टि में प्रेम किसी वैयक्तिक भावना का काम नहीं, बल्कि एक विश्व-व्यापक सूक्ष्म आंतरिक चेतना का प्रतीक है, जो सृष्टि के अणु-परमाणु को पारस्परिक संबंध में बाँधने के साथ-साथ जीवन की गतिशीलता, शक्ति-संपन्नता का आधार है।[1] प्रेम संबंधी प्रचलित धारणाओं से ऊपर उठ कर इक़बाल ने उसकी एक दार्शनिक व्याख्या कर डाली। हिंदी में इस प्रकार की दार्शनिक व्याख्या जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' में मिलती है। उर्दू में इक़बाल के इस उदात्त दृष्टिकोण का विकास करने वाला कोई उल्लेखनीय कवि उत्पन्न नहीं हुआ। 'जोश' मलीहाबादी की उच्च मानवतापूर्ण प्रेम-भावना 'रोमानी' अधिक है, दार्शनिक बहुत कम। इक़बाल प्रेम को सृष्टि की संचालक-शक्ति मानते हैं :

इश्क़ की गर्मी से है मआरका-ए-कायनात,[2]
इल्म मुक़ामे सिफ़ात,[3] इश्क़ तमाशा-ए-ज़ात।[4]
इल्म सकूनो सबात,[5] इश्क़ हयातोममात[6]
इल्म है पैदा सवाल, इश्क़ है पिनहाँ जवाब।[7]

क्योंकि उनका विश्वास है कि

इश्क़ दमे जबरील,[8] इश्क़ दिले मुस्तफ़ा,[9]
इश्क़ ख़ुदा का रसूल, इश्क़ ख़ुदा का कलाम।[10]

प्रेम के आदर्श को इक़बाल ने विश्वव्यापक मानवता, विश्व-बंधुत्व दृढ़ स्वाधीन चेतना के समकक्ष प्रस्थापित कर दिया :

शहीदे मुहब्बत न काफ़िर न ग़ाज़ी,
मुहब्बत की रस्में न तुर्की न ताज़ी।

---

१. मजनूँ गोरखपुरी का मत है : जिस तरह बर्ग साँ (फ्रेंच दार्शनिक) क़ुव्वते हयातिया (जीवन-शक्ति) को और जर्मनी का ऐडोलफ़ आइकन एक आज़ाद रूहानी हरकत (उन्मुक्त आत्मिक चेतना) को आलमगीर हक़ीक़ते अव्वली मानता है, उसी तरह इक़बाल इश्क़ को एक अज़ली क़ुव्वत (आदि शक्ति) तसलीम करते हैं, जो तमाम तख़लीक़ (सृष्टि) और इरतक़ा (विकास) की ज़िम्मेदार है। (इक़बाल, प्रथम संस्करण, पृ० २६-२७)। २. युद्धभूमि, ३. गुण, विशेषताएँ, ४. ख़ुदा की ज़ात का दीदार, परमात्म-दर्शन, ५. स्थायित्व, ६. जीना और मरना, ७. इक़बाल : 'ज़र्बे कलीम', प्रथम संस्करण, पृ० १०३, ८. एक फ़रिश्ते का नाम, ९. हज़रत मुहम्मद का विशेषण, १०. 'बाले जबरील', पृ० २१८, संस्करण का उल्लेख नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वो कुछ और शै है मुहब्बत नहीं है
सिखाती है जो ग़ज़नवी को अयाज़ी।[१]

× × ×

न मुहताजे सुल्ताँ, न मरऊबे सुल्ताँ,[२]
मुहब्बत है आज़ादी-ओ-बेनियाज़ी।[३]

प्रेम एक ऐसा आदर्श है, जो धर्म की मूल चेतना का अंग होते हुए भी उससे ऊपर है। इक़बाल के शब्दों में सुनिए :

अगर हो इश्क़, तो है कुफ़्र भी मुसलमानी,
न हो तो मर्दे मुसल्माँ भी काफ़िर-ओ-ज़िंदीक।[४]

इक़बाल ने प्रेम की महत्ता सिद्ध करते हुए बुद्धि की एकांगिता व अपूर्णता की ओर भी संकेत किया। प्रेम 'ख़ुदा' का प्रतीक है, बुद्धि 'शैतान' का, प्रेम आंतरिक प्रकाश है, बुद्धि एक भ्रम-कुहेलिका। इस बात को कवि ने कितनी सादगी से कहा :

अच्छा है दिल के साथ रहे पासबाने अक़्ल,
लेकिन कभी-कभी उसे तनहा भी छोड़ दे।[५]

आलोच्य काल में इक़बाल अकेले उर्दू कवि हैं, जो स्थूल प्रेम से ऊपर उठ सके हैं और जिनके काव्य में वासनात्मक प्रेम की अभिव्यंजना का नितांत अभाव है। 'शाद' अज़ीमाबादी, 'फ़ानी' बदायूँनी, 'असग़र' गोंडवी का प्रेम 'तसव्वुफ़' (सूफ़ी विचारधारा) के साँचे में ढला है। उन्होंने लौकिक प्रेम में अलौकिक दर्शन किये। इसलिए उनके काव्य में लौकिक प्रेम के चित्र भी मिलते हैं। इक़बाल भी तसव्वुफ़ से प्रभावित थे, किंतु उन्होंने प्रेम के वाह्य प्रदर्शन की अपेक्षा आंतरिक अनुभूति पर बल दिया, जैसे इन पंक्तियों में :

ज़ाहिर की आँख से न तमाशा करे कोई,
हो देखना तो दीदा-ए-दिल वा करे कोई।[६]

---

१. अयाज़ ग़ज़नवी का एक ग़ुलाम था ग़ुलामी, २. आतंकित, ३. इक़बाल : 'बाले जबरील', पृ० १९७, संस्करण अनुल्लिखित। ४. अरबी के एक महाकवि, विचारक, सूफ़ी अबुल-अला-मअर्रा के लिए प्रयुक्त विशेषण। 'ज़िंदीक' का अर्थ... है। इस्लाम की कटु आलोचना करने के कारण अबुल-अला को काफ़िर समझा गया, इसीलिए उसे 'ज़िंदीक़' कहा गया।—लेखक। ५. 'बाले जबरील', पृ० ५४। ६. इक़बाल : 'बाँगे दरा', पंचम संस्करण, पृ० ११२, ६. वही पृ० १०५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी की हिंदी-उर्दू कविता में प्रेम-भावना का विकास दोनों भाषाओं की पृष्ठभूमि एवं आवश्यकता के अनुसार हुआ। दोनों में मानवीय चेतना का आग्रह है, वास्तविकता का स्पर्श है, हार्दिकता का माधुर्य है, किंतु हिंदी में अतींद्रिय प्रेम की प्रतिष्ठा है, उर्दू में मांसल प्रेम की छटा। कुछ उर्दू कवियों ने इस मांसलता का परिहार करने की चेष्टा अवश्य की और उस पर सभ्यता का आवरण चढ़ाने का प्रयत्न किया, पर अधिकांश उर्दू कवि मांसल-प्रेम-वर्णन में ही अनेक बारीकियाँ निकालते रहे।

—१/१, डी० एस० प्रेमनगर, तिलक नगर,
नयी दिल्ली–१८।

विकल्प | कथा और वैचारिक साहित्य का कल्पचेता अर्द्धवार्षिक

- एक सम्पूर्ण उपन्यास
- असाधारण कहानियाँ
- विचारोत्तेजक लेख
- लेखकीय संत्रास और रचनात्मक असामर्थ्य-बोध
- पूर्वा और अपरा : विशिष्ट कथा-स्तम्भ
- निष्पक्ष आलोचनाएँ तथा राजनीति-रंगमंच
- डिमाई आकार के ३०० पृष्ठ : मूल्य : ३.००
- आकर्षक प्रस्तुतीकरण : तिरंगा भव्य आवरण
- प्रत्येक अंक संग्रहणीय
- वर्ष में दो अंक : मई और नवम्बर

●

शैलेश मटियानी द्वारा सम्पादित

●

सम्पर्क :

२६१ - अ, मोतीलाल नेहरू नगर,

इलाहाबाद – २

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नूर नक़वी

'जिगर' के काव्य में प्रेम की परिकल्पना

उर्दू शायरी का आरंभ ग़ज़ल से होता है और यह ग़ज़ल भी एक समय तक सौंदर्य तथा प्रेम के विषयों तक सीमित रही। इस दौरान में इस पर तरह-तरह के आक्षेप किये जाते रहे: कभी इसे 'अर्द्धसभ्य काव्यांग' कहा गया, कभी इसके संकीर्ण क्षेत्र की शिकायत की गयी; किसी ने कहा यह परिवर्तनशील माँगों तथा बढ़ते हुए विचारों का साथ नहीं दे सकती; किसी का विचार था कि नयी समस्याएँ दार्शनिक क्रमबद्धता चाहती हैं जिनका 'रदीफ' तथा 'काफ़िये' की संकीर्ण डगर से गुज़रना संभव नहीं; किसी को ग़ज़ल की मीनाकारी न भाती थी। किंतु यह काव्यांग जिसे 'उर्दू शायरी की जान' कहना सर्वथा न्यायसंगत है, निरंतर परवान चढ़ती रही, इसकी लोकप्रियता किसी समय भी कम न हुई अपितु बढ़ती ही गयी और इसका सौंदर्य तथा आकर्षण उत्तरोत्तर निखरता रहा। 'मीर' ने इसे संवेदनशील हृदय दिया, 'ग़ालिब' ने इसके केशों को सँवारा, 'मोमिन' ने इसे संकेत में मन की बात कहना सिखायी, 'नासिख़' ने इसकी भाषा को लोच दिया, 'जुरअत' ने इसे रंगीन अदाएँ सिखायीं; 'दाग़' ने इसे बातचीत का आकर्षक ढंग सिखाया, 'हसरत' ने इसे कामलोलुपों के घेरे से निकाल कर घर की चारदीवारी से परिचित कराया, 'असग़र' ने इसे कल्पना की उड़ानों के आभूषण से विभूषित किया, 'फ़ानी' ने इसके मृदुल अधरों को मधुर गीतों से अवगत कराया किंतु अभी उन होठों से वह बात कही नहीं जा सकी थी जिसके लिए कहा गया है कि:

मावरा-ए-सुख़न[1] भी है इक बात
इस नग़्म-ए-बेसाज़-ओ-सदा[2] के लिए

उसे किसी वादक की प्रतीक्षा थी और अंततः 'जिगर' ने उस अभाव की पूर्ति कर दी।

'जिगर' सौंदर्य तथा प्रेम के कवि हैं और यह प्रेम लौकिक या पार्थिव है। प्रथम तथा द्वितीय चरण की ग़ज़लों में सूफ़ीवाद की झलक विद्यमान है किंतु तृतीय चरण के प्रारंभ से उनका वही वास्तविक रंग ग़ज़लों पर छाता हुआ प्रतीत होता है जो उनके शाश्वत जीवन का आश्वासन

---

१. वाणी के लिए दुरूह, २. वाद्य तथा-वाणी-विहीन गीत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है अर्थात 'बयाने-इश्क़-ओ-हस्ती' (प्रेम तथा अस्तित्व का वर्णन) और 'हदीस-ए-दिलबराना' (चित्ताकर्षक प्रणय-वर्णन), उनकी प्रेमाख्यान संबंधी ग़ज़लों में गीतात्मकता, उन्माद तथा मद्यपान एवं गत्यात्मकता ने वह स्थिति उत्पन्न कर दी कि वे लोग जो 'जिगर' की महत्ता को स्वीकार करते हैं और वे जो उन्हें महान नहीं मानते, उनके शेर पढ़ कर सिर धुनते दिखायी देते हैं। उनके जीवन तथा काव्य में पूर्ण तादात्म्य है : **हक़ीक़त शेर में जो है वही है जिंदगी अपनी।**

जो उन्माद तथा संपन्नता उनके काव्य में मिलती है वही उनके जीवन में भी पायी जाती है। उनका हुलिया सर्वदा यह रहा कि शेरवानी के बटन कुछ बंद हैं, कुछ खुले हैं; दाढ़ी बढ़ी हुई है; पान की पीक दाढ़ी पर बिखरी हुई है; इधर-उधर बिखरे हुए अस्त-व्यस्त बाल टोपी से बाहर निकले पड़ते हैं, टोपी अलग कुछ तिरछी लगी हुई है और 'जिगर' आसपास के वातावरण से अनभिज्ञ झूमते-झामते चले आ रहे हैं। किंतु उनके इस असमान व्यक्तित्व में भी एक आकर्षण था और उनका यह विशिष्ट ढंग बहुत सुंदर था। एक ज़माने में 'जिगर' की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देख कर हमारे उर्दू शायरों पर 'जिगर' बनने का भूत बुरी तरह सवार हो गया था। न जाने कितने शायरों ने दाढ़ियाँ और बाल बढ़ा लिये थे, शराब के नशे में चूर रहने लगे थे, पान की पीक चेहरे पर गुलकारियाँ करती नज़र आती थी। किंतु 'जिगर' कोई न बन सका। शायद यही दशा बायरन की लोकप्रियता तथा ख्याति के समय इंग्लैंड में हुआ था जब लोगों ने लँगड़ा कर चलना फ़ैशन बना लिया था।

ग़ज़ल का शायर अपने अंतर्जगत में इस प्रकार खो जाता है कि वह हर बाह्य यथार्थ का प्रतिबिंब अपने हृदय-दर्पण में अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से देखता है और फिर उन्हें स्थूल प्रतीकों तथा अलंकारों में व्यक्त करता है। हमारे ग़ज़ल के कवि—पुरातन कवियों से ले कर आधुनिक काल के कवियों तक—सभी इस चित्र-निकेत में रमते दिखायी देते हैं। 'जिगर' भी अपनी कल्पना के पंखों के बल पर इहलोक तथा परलोक का पर्यटन करते हैं और तब ये शेर प्रेक्षण और अनुभूति में घुल कर शेर का रूप धारण कर लेते हैं। उनके काव्य में अंतर्दृष्टि के अनेक सुंदर उदाहरण मिल जाते हैं। उनकी कल्पना मधुमास के लावण्य में किसी की कामना का हनन देख लेती है, उन्होंने अपने अंतस में प्रेम का एक संसार बसा लिया था :

मैं जहाँ हूँ तिरे ख़याल में हूँ
तू जहाँ है मिरी निगाह में है।

ग़ज़ल की सफलता का आधार अधिकतर सौंदर्य-बोध तथा व्यंजनात्मक एवं रहस्यानुभूति है, जो उसे 'नज़्म' से पृथक करती हैं। यदि ब्यौरे और व्याख्या से काम लिया जाय तो न केवल यह कि ग़ज़ल अपना विशिष्ट गुण खो बैठती है अपितु वह ग़ज़ल न रह कर नज़्म बन जाती है। संकेता मकता के अभाव से शेर की प्रभावोत्पादकता भी नष्ट हो जाती है। 'जुरअत' का एक शेर सुनिए और देखिए कि विवरणात्मक वर्णन ने किस प्रकार उसके प्रभाव को नष्ट कर दिया है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या रुक के वो कहे है, जो टुक उससे लग चलूँ
. बस बस परे हो शौक़ यह अपने तईं नहीं।

'जिगर' का काव्य इस दोष से मुक्त है। उनके यहाँ संकेत जगह-जगह दिखायी देते हैं। उदाहरण के लिए निम्न शेरों में इसी गुण ने प्रभाव को द्विगुणित कर दिया है :

दिल धड़कते ही फिर गयी वो नज़र
लब तक आयी न थी कि बात गयी

थम-थम के उनके कान में पहुँची सदा-ए-दिल
उड़-उड़ के रंग चेहरा मिरा नामाबर हुआ

हमीं पे इश्क़ की तुहमत लगायी जाती है
मगर यह शर्म जो चेहरे पे छायी जाती है!

'जुरअत' ने ग़ज़ल में कामलोलुपता, मर्यादाहीनता और निकृष्टता को प्रश्रय दिया। वे 'जिगर' की तरह दूरी के समर्थक न थे, उनके यहाँ प्रेमातिरेक यही चाहता था कि वे प्रेयसी के घुटने से घुटना भिड़ाये रखें :

बैठें क्या दूर कि चाहे है यही कसरत-ए शौक़
आपके ज़ानू से ज़ानू को भिड़ाये रखिए।

'हसरत' ने प्रेम को उसका खोया हुआ सम्मान वापस दिया। उसे कामलोलुपता से मुक्ति दिलायी और 'चूमाचाटी' की लज्जाजनक कल्पना से उसे पवित्र किया। 'हसरत' से पहले अधिकतर कवियों में प्रेमिका की पुनीत परिकल्पना का नितांत अभाव था। उन कवियों की प्रेमिका प्राय: खलनायकों के आलिंगन में बद्ध दिखायी देती है। 'मोमिन' के दो शेर सुनिए :

मेरे कूचे में अदू मुज़्तर-ओ-नाशाद[1] रहा
शब ख़ुदा जाने कहाँ वो सितम-ईजाद[2] रहा

ले शब-ए-वस्ल-ए-ग़ैर भी काटी
तू मुझे आज़मायेगा कब तक

'हसरत' ने प्रेम के स्तर को ऊँचा उठाया और उसे सौंदर्य का प्रतिद्वंद्वी बनाया। किंतु कभी-कभी वे भी सौंदर्य के संमुख नतशिर दिखायी देते हैं :

---

१. विह्वल और निराश, २. क्रूर।

३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर-ए-इज़्ज़त-ए-'हसरत'[१] भी क्यूँ ख़म न होता[२]
तिरा नाम है हुक्मरान-ए-मुहब्बत

'जिगर' ने प्रेम को हीनता और लोलुपता से निकाल कर आत्मदर्शन के नियम सिखाये, उनके यहाँ प्रेम की परिकल्पना एक पवित्र परंतु मानवीय भावना की परिकल्पना है। वे प्रम की महत्ता का बार-बार निर्देश करते हैं। उनके यहाँ प्रेम एक चिरंतन स्रोत है: **मिलती है उम्र-ए-अबद[३] इश्क़ के मैख़ाने में** वे प्रेम की इसी प्रकार प्रतिष्ठा करते हैं: **कौनेन[४] है ख़ुद हाशिया बरदार-ए-मुहब्बत।** 'जिगर' ने न केवल प्रेम के स्तर को ऊपर उठाया बल्कि उसे सौंदर्य के समकक्ष भी रखा :

इश्क़ अगर हुस्न के जल्वों का है मरहून-ए-करम[५]
हुस्न भी इश्क़ के एहसाँ से सुबुकदोश[६] नहीं

उनके यहाँ यदि एक प्यासा है तो दूसरा उसकी मदिरा :

यह हुस्न है क्या, यह इश्क़ है क्या किसको है ख़बर इसकी लेकिन
बेजाम जहूर-ए-बादा नहीं, बेबादा फ़रोग़-ए-जान नहीं

कहीं-कहीं प्रेम सौंदर्य के प्रति उदासीन है, प्रेमी उस अवस्था में पहुँच जाना चाहता है जहाँ वह नहीं बल्कि स्वयं उसकी प्रेमिका उसकी अभिलाषा करे :

यूँ भी हो काश ग़म-ए-इश्क़ की तासीर 'जिगर'
मैं तमन्ना न करूँ ख़ुद वो तमन्नाई हो

'हसरत' ने कहा था :

मुड़ के फिर मैंने न देखा हूँ मैं ऐसा रह-नवर्द[७]
देखती ही रह गयी हसरत से मुँह मंज़िल मिरा

'जिगर' का प्रेम भी अपनी मंज़िल से इसी उदासीनता के साथ गुज़र जाता है, यद्यपि : **वही हैं मसरूफ़-ए-दिलनवाज़ी वही जो थे बेख़बर से पहले।**

लेकिन अब प्रेमी जिज्ञासा की उस अंतिम सीमा तक पहुँच चुका है जहाँ अभिलाषा की प्रत्येक आकृति बन-बन कर नष्ट हो जाती है। जहाँ वह खुद अपने हृदय को ही मूर्ति बना कर

---

१. हसरत का विनम्र सिर। २. प्रेम का सम्राट्, ३. शाश्वत आयु, ४. सृष्टि, ५. कृपा का ऋणी, ६. वंचित। ७. पथिक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे वार्तालाप करता है, स्वयं अपने सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है और उसे किसी के आलिंगन की स्पृहा शेष नहीं रहती :

अपने ही इश्क़ का दीवाना बना फिरता हूँ
मेरी आग़ोश को अब हसरत-ए-आग़ोश नहीं।

प्रेम और सौंदर्य परस्पर ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि उनको अलग-अलग करना संभव नहीं। यहाँ उनकी उस इच्छा की पूर्ति हो चुकी है कि—**मैं ही बन जाऊँ क्यूँ न सूरत-ए-यार**। अब प्रेम का संसार और सौंदर्य की सृष्टि स्वयं ब्रह्म में निहित है :

मुझी में इश्क़ का आलम, मुझी में हुस्न की दुनिया
निसार अपने पे हो जाऊँ अगर सौ बार पैदा हूँ

'जिगर' के काव्य में प्रेम की सजीव और यथार्थ परिकल्पना दृष्टिगत होती है। यहाँ वे 'असग़र' की अपेक्षा 'हसरत' के अधिक निकट आ जाते हैं : 'हसरत' ने यथार्थ में रोमान ढूँढ़ा और 'जिगर' ने यथार्थ को ही रोमान बना लिया।[1] हसरत की शायरी में प्रेम की मात्र काल्पनिक एवं वायवी कथाएँ नहीं मिलतीं, उनकी कविता **चुपके-चुपके रात-दिन आँसू बहाना याद है** पढ़ कर कौन विश्वास न करेगा कि ये यथार्थ और सत्य पर आधारित हैं और वैयक्तिक प्रेक्षण तथा अनुभव का परिणाम हैं। इसी प्रकार 'जिगर' का प्रेम भी परंपरागत नहीं बल्कि सच्चा और मानवीय प्रेम है। उन्होंने प्रेम को न तो कामलोलुपता की दलदल से फँसने दिया और न ही उसे कोई अलौकिक वस्तु ठहराया। उनकी प्रेमिका भी मानवीय गुणों से युक्त है। उन्होंने सौंदर्य और प्रेम की काल्पनिक सृष्टि प्रस्तुत करके हमारा मन नहीं बहलाया, उनके काव्य में प्रेम व सौंदर्य, विरह और मिलन सब इसी भौतिक संसार की वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। उनके काव्य में सत्य पर आधारित प्रेम व सौंदर्य की कोमल बातें जगह-जगह पायी जाती हैं। वे कल्पना मात्र में प्रेम व सौंदर्य की सृष्टि नहीं करते बल्कि उनका प्रेम अपनी प्रेमिका को आलिंगन में भी पा लेता है :

मुहब्बत ने उसे आग़ोश में भी पा लिया आख़िर
तसव्वुर ही में रहता था जो इक महशर्सख़राम[2] अक्सर

निम्नलिखित शेरों में प्रेम के कैसे जीते-जागते चित्र मिलते हैं :

हैफ़ वो लग्ज़ीदा[3] लग्ज़ीदा क़दम मेरी तरफ़
हाय वो दुज़्दीदा[4] दुज़्दीदा नजर मेरे लिए

---

१. आले अहमद 'सुरूर', २. जिसकी चाल प्रलयंकारी हो, ३. लड़खड़ाते हुए, ४. चोरों की-सी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामने आते ही आते वो तनफ़ुस[1] तेज़-तेज़
सीन:-ए-शफ़्फ़ाफ़ वो ज़ेर-ओ-ज़बर मेरे लिए
शबनम आलूदा वो आँखें वो गुलाब अफ़शों जबीं[2]
वो धड़कता दिल, वो घबरायी नज़र मेरे लिए
उफ़ वो कहना उसका वो बाँहों से बाँहें डाल कर
मैं जिगर के वास्ते हूँ और जिगर मेरे लिए

'जिगर' के काव्य में प्रेम की विभिन्न अवस्थाएँ मिलती हैं उनका प्रेम पहली से दूसरी और दूसरी से तीसरी मंजिल में पदार्पण करता दृष्टिगोचर होता है। कहीं उन्हें प्रेम के प्रारंभ का वह समय याद आता है: **वो इक झिझक सी, वो इक झपक सी हर इल्तिफ़ात-ए-नज़र[3] से पहले।**

फिर उनका मित्र 'अज्ञान, विस्मृति, मुस्कान और संभाषण' की अवस्थाएँ तै करता हुआ उनके निकट पहुँचता है। उनका प्रेम अब इस मंज़िल में है कि: **दोनों तरफ़ से दस्त-ए-तमन्नादराज़ था** प्रेम और सौंदर्य, दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता का अनुभव था:

तै मंजिलें हुई हैं यूँ इश्क़-ए-आरज़ू की
कुछ मैंने जुस्तजू की, कुछ उसने जुस्तजू की

लेकिन यह हर्ष का युग अधिक देर न रह सका। उनकी प्रेमिका उनसे बदगुमान हो कर संबंध-विच्छेद के लिए तत्पर है और वह छूट कर ही रहता है और उससे घनिष्ठता का काल मात्र कल्पित बात हो कर रह जाता है:

हाय वो जोश-ए-रब्त-ओ-ज़ब्त[4], हाय यह बेतअल्लुफ़ी
अश्क भर आये आँख में कूच-ए-यार देख कर

और यह कामना कि **वो मेरी ज़ुबाँ होते मैं उनकी ज़ुबाँ होता** मिट्टी में मिल जाती है। अब **नाज़ुक लबों पर शिकव-ए-दर्द-ए-निहाँ** नहीं अब तो प्रेमी निराशाग्रस्त है और विरह का महान संताप। लेकिन उसे विश्वास है कि यह प्रेम-संबंध, यह संबंध-बंधन मिटने से मिट नहीं सकते:

वो जो इक रब्त-ए-मुहब्बत है मिटाना उसका
मेरी ताक़त में नहीं, आपकी क़ुदरत में नहीं

---

१. श्वासोच्छवास, २. वह माथा जो गुलाब छिड़क रहा हो। ३. प्रेमपूर्ण दृष्टि, ४. प्रेम-संबंध का उत्साह।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110557

और निराशा के अँधेरे से आशा की एक किरण फूटती-दिखायी देती है : **वही जो रहते हैं दूर अब तक खुद अपनी आग़ोशी वा करेंगे।**

निष्कर्षतः 'जिगर' काव्य में उत्साह, अनुभूति, सत्य तथा वे सब विशेषताएँ हैं जो प्रेम-काव्य के लिए अनिवार्य हैं। बीसवीं शती के ग़ज़लगो शायरों में उनका स्थान सबसे ऊँचा है, केवल 'हसरत' उनके प्रतिद्वंद्वी दिखायी देते हैं, और कहीं-कहीं वे उन्हें भी पीछे छोड़ जाते हैं। रशीद अहमद सिद्दीकी की भविष्यवाणी कि—'जिगर' ही के सहारे ग़ज़ल आगे बढ़ी है' पूरी हो कर रही है।

—२१०९, गली ब्यूलर वाली,
अहाता काले साहब,
बल्लीमारान, दिल्ली-६।

चिन्तना - २

'चिन्तना का उद्देश्य न तो किसी वाद-विशेष को जन्म
देना है और न किसी दल-विशेष को प्रश्रय
ही। शुद्ध साहित्यिकता ही इसका
एकमात्र उद्देश्य है।'

सम्पादक : सत्यनारायण श्रीवास्तव

सूत्र :

मोतीझील वार्सली रोड, मुजफ़्फ़रपुर (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोद्दार रामावतार अरुण

खजुराहो

वास्तुकला-सम्राज्ञी का इच्छित अंतःपुर
शिला-शरीरा काम-कंठ का वात्स्यायन-सुर
प्रस्तर-अभिव्यंजित यौवन-आनंद-वंदना
प्राणमयी प्रतिमाओं में श्रृंगार-सर्जना

पाषाणों में नयन-छंद-उन्नयन अचेतन
कुसुमांगों में कला-केलि का मृदुलालिंगन
पत्थर में प्रस्फुटित रूप-रमणीय वाटिका
इंद्र-मंच पर ज्यों अनंग-अप्सरा-नाटिका।

शिल्प-सुंदरी उड़ती-सी कामातम-पंख पर
विद्यापति उपमा ज्यों देहमयी द्युति-सुंदर
दृष्टि-योग से निर्मित कला-सृष्टि आकर्षित
प्रणय-पूर्णिमा में सागर ज्यों चंद्रोत्तेजित

सुर-प्रदेश में सुंदरियाँ ज्यों निरावरण-सी
वास्तु-मुकुर में रूपायित छवि वशीकरण-सी
कामदेव की शिला-सदन-रचना वासंती
किसी कला-कुंती की प्रथमेच्छा रसवंती!

रीति-काल की प्रीति-गीति-सी रति पाषाणी
सुंदरता की प्रस्तर-पुस्तक युग-अभिमानी
किसी देवयानी की कला-तंत्रिका-माया—
कच-सम्मोहित इंद्रजाल की हँसती छाया!

अलका से लौटा शिल्पी का उभरा स्मारक
मधुर वासना का चमचम उत्कीर्णित अभ्रक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धि-परीक्षा हेतु रचित निर्लज्ज निकेतन
किसी प्रिया की ललित लालसा का स्मृति-चुंबन

धरती पर स्वर्गांश-सृजन-चेष्टा एकाकी
किसी सुखी सुर-कवि के मन की मुकुलित झाँकी !
खजुराहो ! तुम गीति-लता पाषाण-प्रणय की
तुम अतृप्ति की तृप्ति-मूर्तियाँ किसी हृदय की !

तुम विलास की विश्वमोहिनी राजकुमारी
तुम तरंग पर चंद्र-चुंबिता नर्तित नारी
पंचबाण प्रस्फुटित तुम्हारे बाहुपाश में
लिखते चंपक-पुष्प राग-रत रम्य श्वास में !

सुधा-पंक से निकलीं तुम निशि-नमित कमलिनी
कला-षोडषी अविवाहित तुम रूप-रंगिणी
प्रस्तर में रुक्मिणी-हरण-सी अंकित आशा
स्वयं काम-शिल्पी की तुम उत्कीर्णा भाषा

मुग्ध मयूरासीन नमस्ते, शिला-उर्वशी !
कला-कंचुकी खुली-खिली पर कसी-कसी-सी
तुम किशोर-वय कालिदास की ऊर्मिल उपमा
हर ले लोचन ऐसी तुम पाषाणी सुषमा !

●

कवि-निवास
समस्तीपुर, (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह

स्थितियाँ और अकेला 'मैं'

एक आंशिक वक्तव्य

१

बहुत प्रयत्न कर के भी मेरे लिए यह सोच पाना मुश्किल ही प्रतीत होता है कि मेरी कविताओं का प्रेरणा-विंदु कहाँ है। मैं जो विविध इकाइयों में बँटा हुआ हूँ : मसलन माँ-बाप, भाई-बहन, बीवी-बच्चे, दोस्त-अहबाब और जाने-पहचाने अनेक-अनेक चेहरे—खुद मूल रूप में कहाँ हूँ ?—कहाँ नहीं हूँ ?—यह जानना जितना जरूरी लगता है, उससे कम ज़रूरी यह नहीं कि समझूँ—कब और कहाँ मुझे 'अपना' होने की प्रतीति होती है या होने में सुविधा मालूम होती है और कब और कहाँ मैं अपने चतुर्दिक संदर्भ से कटा हुआ लगता हूँ या मेरी साँसों को घुटन या असुविधा महसूस होने लगती है।

अपने सर्जनात्मक क्षणों में मुझे प्रायः ऐसा लगा है कि ये दोनों ही स्थितियाँ मेरे निकट अपना-अपना पर्याप्त महत्व रखती हैं। एक स्थिति में जहाँ मेरी सहज-सरल धारणाएँ और छोटी-छोटी ऐसी अनेक बातें खड़ी मिलेंगी जिनसे कोई भी खेती हरियाती है, तो दूसरी स्थिति में संशय, क्षोभ, विग्रह और विक्षेप में पड़ा हुआ वह आदिम पुरुष चट्टान-सा खड़ा मिलेगा जिसके लिए अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए परिस्थितियों से विद्रोह करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं रह जाता। और चूँकि यह स्थिति बहुत कुछ विकट होने के साथ-साथ विध्वंसोन्मुख भी होती है, व्यक्ति-मानस का उग्र और शंकालु पक्ष ही संमुख आता है। और फिर, शंका, अनास्था और भीतरी-बाहरी अव्यवस्था को जन्म मिलता है। साथ ही वे अनेक-अनेक विस्फोट-विंदु भी परिलक्षित होने लगते हैं जहाँ से निकलते हुए लाल धुएँ में वे तमाम रूढ़ियाँ और संकीर्ण व्यवस्थाएँ गलती-मिटती नज़र आने लगती हैं जिनमें मनुष्य को, मिटना मंजूर नहीं हुआ, यदि जानवर बन कर ज़िंदा रहने के लिए विवश होना पड़ता है। इससे, मेरा ख़याल है, व्यंग्य-विद्रूप को, मनुष्य के सहज प्रेम और विश्वास की प्रकृत भाषा छीन लेने का मौक़ा मिलता है। मानव-समाज के अहित की इससे बड़ी घातक स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। कवि के लिए यह एक अनिवार्य विवशता ही हो सकती है, काम्य नहीं।

उग्र से उग्र विद्रोही (कवि) भी जिस विध्वंस की कल्पना करता है, ऐसा नहीं कि वह विध्वंस निस्तानी होता है उसके पीछे एक न एक ऐसी बलवती प्रेरणा अवश्य रहती है जिसके लिए जीवन का पर्याय जीवन ही होता है या निर्माण होता है, मरण अथवा विनाश नहीं। टूटना किसी एक विंदु पर सत्य हो सकता है, समग्र रूप से नहीं। जुटने की संभावना न हो तो फिर टूटना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी बेमानी हो जाता है। हम सबका एक न एक दिन मर जाना निश्चित है। फिर भी, हम जीवन की कामना करते हैं। मरण उतना ही निश्चित और सत्य है जितना जीवन। किंतु कर्म-भूमि या सर्जन और संघर्ष का स्पष्ट आह्वान–होने के नाते जीवन हमारे निकट का सत्य होता है। और चूंकि हम पटाक्षेप के मुक़ाबले शुरुआत को, बिखराव के बदले संघटित सिलसिले को अधिक पसंद करते हैं, यह निकट का सत्य अधिक मूल्यवान हो जाता है। वह जो दूर का हौवा या अस्पष्ट धुँधलका मात्र है, हमारा अभीष्ट या ग्राह्य नहीं होता। इसीलिए मिटने की स्थितियों से जूझते हुए जीने की भूमि तैयार करने में हमारे संघर्ष किंवा अस्तित्व की मात्र सार्थकता है। कवि-दृष्टि, जो आस्था और सर्जन की संभावना से शून्य हो कर मात्र विस्फोट या विध्वंस के लेख पढ़ने में ही लगी रहे एक विकृत दृष्टि के सिवा और कुछ नहीं हो सकती। वास्तविकता की आँच में तपने पर भी, यदि तपन को झेल कर भी जीना है, सपना देखना ज़रूरी होता है। सपना हर स्थिति में कर्म-विमुख चेतना का निष्क्रिय पलायन ही नहीं होता; सृष्टि का ठोस प्रारूप या कर्म का संभव-गर्भ आमंत्रण भी होता है। हालाँकि यह बहुत-कुछ सपना देखने वाली दृष्टि पर निर्भर करता है।

कवि-दृष्टि या संचेतना की यह प्रक्रिया अस्तित्व-बोध की खंडित पार्श्वभूमि से उभर कर फिर उसी पर संपन्न होती है। अपने इस क्रम में उसे उन अनेक संभावनाओं और संक्रांतियों से गुज़रना पड़ता है जो उसके परिवेश में निरंतर चलते रहने वाले घात-प्रतिघातों से उत्पन्न हो कर हमारे नैतिक संकल्पों और बाह्य प्रतिमानों को बदलते चलती हैं। विज्ञान ने हमारे संमुख इस रहस्यमय सृष्टि के रहस्य को ही छीन कर रख दिया है। किंतु, वह सृष्टि जो हमारे अंदर की है, अभी तक आवृत है। मनुष्य अभी तक किसी ऐसी एलेक्ट्रानिक मशीन का निर्माण करने में असफल ही रहा है, जो हमारे अंदर का हूबहू रूप पकड़ सके या वहाँ जगने वाली भावनाओं का सही-सही पता दे सके। और चूंकि अंदर की 'रिपोर्टिंग' या 'फ़ोटोग्राफ़ी' की ज़िम्मेवारी अंतिम रूप से कवि-दृष्टि और भाषा पर ही आती है, कवि-कर्म एक बहुत कठिन कर्म हो जाता है। अपने अंदर से दगा नहीं करने का उसका संकल्प यदि दृढ़ न रहा, तो उसका अस्तित्व खुद अपने युग और समाज के प्रति एक हल बन कर रह जाता है। फिर भी, विज्ञान ने अब तक जो कुछ दिया है, उसके महत्व से इन्कारा नहीं जा सकता। यह एक बहुत बड़ी सहूलियत है। किंतु, विचार कर देखा जाय तो यह सहूलियत ही एक ऐसी विषम परिस्थिति को जन्म दे चुकी है जिसमें हमारे निर्णय या चुनाव का प्रश्न पूर्वापेक्षा अधिक जटिल हो गया है, क्योंकि आज प्रश्न जितना गवेषणा और अनुसंधान का नहीं, उससे अधिक निर्णय या ग्रहण का ही है। मुझे लगता है, आज हमारे सामने और किसी भी संकट से अधिक महत्वपूर्ण यह निर्णय का ही संकट है।

भीड़-भड़ाका हो या काफ़ी-हाउस का शोर-शराबा हो या नीले आसमान के नीचे पार्क की किसी शांत बेंच का आधार हो या ऊपर की ओर उठती हुई हरी घास का क्षण का साथ हो या फिर अपने ही छप्पर के नीचे कुछ बहुत प्रिय साँसों की तिक्त-मधुर स्वीकृतियाँ या अस्वीकृतियाँ हों, हर मुमकिन स्थिति में ऐसा लगा है कि एक न एक कोई सूत्र अवश्य है जो मुझे अपने घर से बाँधे हुए है। उस घर का कुहराम अनिश्चयता के त्रास और विस्फोट की लपटों से बचने का है और वह मेरे कानों से हमेशा टकराता रहता है। वैसे ही, और घरों के भी कुहराम हैं। एक घर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से बँधे रहने के कारण मेरे अंदर ऐसी इच्छा का उठना स्वाभाविक है कि आग कहीं नहीं लगे और घर किसी का भी नहीं जले। चिंतन के इस विंदु पर आते-आते मुझसे संदर्भ-सापेक्षता या सामाजिक संबंधों का प्रश्न जुड़ जाता है। और तब मैं बिल्कुल 'अपना' और 'अकेला' नहीं रह जाता हूँ; चारों ओर से घेरे हुए स्थितियाँ मुझे भीड़ के ठीक बीच ला कर खड़ा कर देती हैं।

तीन कविताएँ

प्रथम पुरुष

मैं जो हूँ सो हूँ। मगर हूँ
और यहाँ हूँ।

धरती और धूप और हवा और खुशबू———
आसमान में भी मेरा एक हिस्सा है। दुनिया में
जितना सारा अंधकार है उसका कुछ न कुछ भार
मैं भी ढोता रहा हूँ।

इस धरती पर
चलते-चलते, मुमकिन है, कभी तुम्हारी दृष्टि
मेरी दृष्टि से टकराये और मैं जब तुममें अपने को
खोजता हुआ क्षण भर के लिए कहीं खड़ा हो गया
रहूँ, तुम किसी कारण से कतरा कर निकल जाने की
जल्दी में रहो।

हालाँकि हमारा रिश्ता
इस तरह कतरा कर निकल जाने का नहीं, बल्कि
आँख से आँख मिला कर खड़ा हो जाने—खड़ा
हो कर एक दूसरे को पहचानने—और पहचान कर,
फिर, बिल्कुल अपना नहीं यदि, कम से कम
निकट हो जाने का है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर नहीं,
यह निकटता ही हमारे अस्तित्व की आधार-शर्त है—
क्योंकि निकटता अनेक सारी सामान्य अनिवार्यताओं को
महसूस और स्वीकार करने की स्थिति है, जो दूरी नहीं
हो सकती। दूरियाँ, प्रायः, हमसे हमारा हमारापन
छीन लेती हैं।

विसंमति

यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं हो जाती कि आदमी (भूख और बीमारी और घुटन से) मर जाता है। वैसे, आज जिंदा ही कौन है! कुछ हैं, जो मौत और मौत की सेना से जूझते हुए जीने के लिए संघर्षरत हैं। पर उनका संघर्ष आखिर कितनों को मालूम है। (अधिकांश ऐसे हैं, जिन्हें अपना सही-सही परिचय तक नहीं मालूम। और वे इसी से ख़ुश नज़र आते हैं।)

कुछ मालूम न होने या करने की यह स्थिति आज की एक बहुत बड़ी सुविधा है। अज्ञान भी कभी-कभी वरदान सिद्ध होता है। वैसे, ज़रूरी नहीं कि ख़ुशी का अर्थ हर वक़्त ख़ुशी ही हो। फिर भी, ख़ुशी क़रीब सभी चाहते हैं। और यह चाहत हमारे संक्रमणशील समाज के अवमूल्यन के लिए एक नुस्ख़ा बन गयी है।

हालाँकि नुस्ख़ा हर वक़्त कारगर नहीं होता। फिर भी, हम एक न एक किसी नये नुस्खे के फेर में रहते हैं। और यह बुरी बात नहीं। मगर बात बुरी तब हो जा सकती है, जब आदमी आदमी के लिए नुस्ख़ा बनने लगे।

सूरज को किसी कृत्रिम लोक को रौशन करने के लिए, मिटाने का प्रयास आखिर क्या माने रखता है, सिवा इसके कि आदमी आदमी से, गाड़ी गाड़ी से या रॉकेट रॉकेट से टकरा कर स्वतः मिट जाय। (हालाँकि मिटना, कभी बनने की, एक कोई अनिवार्य प्रक्रिया भी हो सकता है।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैसे,

लोग मिटने-मिटाने के लिए तैयार हो जायँ तो भी उतना बुरा नहीं होगा। विशेषकर आज के संदर्भ में।...मरणोन्मुख संस्कृति जीवनोन्मुख आदमी के लिए कोई सही परिभाषा नहीं दे सकती, जब कि आज सबसे बड़ी आवश्यकता उसी परिभाषा की है।

संवर्त

जब सब सोये रहते हैं,

मैं उठ कर आहिस्ते से रोशनी कर लेता हूँ, कि देखूं—अंधकार का मुंह कैसा होता है, कैसे सन्नाटा उसकी बग़ल में सोया रहता है। मगर, मुझे अपनी बीवी और बच्चों के चेहरे दिखायी देने लगते हैं।×××नजर और दौड़ाता हूँ तो दीवार पर टँगे कैलेंडरों की तस्वीरें सामने पड़ती हैं। और यह सब बुरा नहीं लगता।

—बुरा यह भी नहीं लगता कि मैं उन्हें बार-बार देखने लगता हूँ—रोशनी कमरे में हुई रहती है। साँसें रुक गयी सी लगती हैं जैसे वे भी यह देख लेना चाहती हों कि मैं क्या देखता हूँ—रोशनी को मुझसे कहीं क़ोफ्त तो नहीं हुई रहती।

(×××ऐसे वक़्त पर कभी मोनालिज़ा तो कभी मेडोना याद आने लगती है। और नींद का पता, नहीं रहता)।

—नींद की गोलियाँ लेने से सारी रात जाग कर काट देना कहीं ज़्यादा अच्छा लगता है। लोग भी क्या होते हैं जो मीना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमारी और वैजयंतीमाला को देखने के लिए भीड़
बन जाते हैं,जब कि मोनरो का दिल उनके पैरों के
नीचे धूल होता रहता है......

(हेलेन या क्लियोपेट्रा यदि किसी औरत का नाम
है तो फिर औरत से बढ़ कर खौफनाक बीमारी
कोई और नहीं हो सकती)।

आदमी प्यार पर जीता और शक पर मरता रहता है। नफ़रत इन दोनों का मिला-जुला कोई नाम है शायद। मुझे तो कभी-कभी गिला इस रोशनी से रहता है, कि अंधकार और सन्नाटे को फ़रार कर देती है।××× नींद में बच्चे को सुगबुगाते देख कर उसका मुँह चूम लेने का मन होता है, जब कि कम्बख्त (उसी वक़्त) पीता रहता है।

×××××मैं॥

...कभी उसको तो कभी उसकी माँ को देखता हूँ और चाहता हूँ, कि सूरज और चाँद के लिए आसमान एक ही नहीं होता। रोशनी होती तो अंधकार भी वहीं कहीं सोया रहता। (भाग नहीं पाता।) और सन्नाटा आ कर चुपके से मेरे दिल का हाल पूछता।

●

२९, रसा रोड ईस्ट,
फ़र्स्ट लेन,
कलकत्ता—३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्यामसुन्दर घोष

कॉर्कबंद बोतल जैसा परिवेश मुझे बाँधे है

नदी किनारे घूम-घूम कर खूब थका डालूँगा;
वैसे मेरे मन की बेचैनी न कभी कम होगी।

हरी-भरी लंबी घासों से नाता टूट गया है।
धुआँ उगलती चिमनी वाले शहरों की बाँहों में—
क़ैदी हूँ। कानों में जंगल के वे गीत सुहाने
गूँज रहे। बेमान चला जाता सँकरी गलियों में।

महिने बरस बीत जाते हैं, नहीं देख पाता हूँ—
संध्या की लाली, चंदा का धीरे-धीरे उगना।
तारे बहुत दूर लगते हैं। अब तो ये हालत है,
ललचायी नजरों से वर्षा की बूँदें तकता हूँ।

नंगे पावों चलने का मन बहुत बार होता है;
भीगी घास इशारे करती। पर जूतों के फ़ीते—
नहीं ढीलने की फ़ुर्सत है। रिसता ही रहता हूँ;
कार्कबंद बोतल जैसा परिवेश मुझे बाँधे है।

मन होता कुर्सियाँ तोड़ दूँ और भूमि पर लेटूँ,
पर मिट्टी की सोंधी गंध कहाँ पाऊँ? गमले में—
थूक-पीक उतराते। पत्ते रँग बदरंग हुए हैं:
कोढ़ सभ्यता का इनके अंगों में आन बसा है।

●

गोड्डा,
संताल परगना,
बिहार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम जी सिंह

दर्द : एक रासायनिक प्रक्रिया

यह संस्कृतिहीन भूख
यह आदमी के खून में
जीने और जी-जी कर सहने
और सह-सह कर मरने
और मर-मर कर जीने की विवशता
और विवशता को पीठ पर तवे-सा बाँध
कवच बना लेने का व्यर्थ दुस्साहस
और बेहया पेट की खोखल को
रूसी-अमरीकी रॉकेट पर बिठा
'आकाश-व्यापी' बना देने का भोला उपक्रम :
हर चीज़ ठीक है—
ग़लत है सिर्फ़ वह मीठा ज़हर
पसलियों से ऐंठती हुई आग
आँखों में जमती पर्त-पर्त बुझी नीली राख
और हड्डियों को चीरती हुई ज़िंदगी

भला—कौन, किससे करे फ़रियाद
सो भी मुट्ठी भर गेहूँ के लिए
इतनी छोटी सी बात।

हर चीज़ जहाँ की तहाँ ठीक ही तो है
ग़लत क्या है ?
ग़लत है सिर्फ़ एक नाम
क्रांति ! भूखी नंगी अपाहिज क्रांति ! !
लाठी-गोली और आँसू-गैस के माहौल में
सचिवालय के सामने भीड़ का एक थका-हारा चेहरा
और चेहरे को चेहरे से बाँधता हुआ कुहरा
और ठंडी सिकुड़न लिये एक गति नाकाम।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊँची कुर्सियों के बौने
शायद सच्चे और बेहद ईमानदार हैं
क्योंकि वे ग़लतियाँ करने के लिए उत्तरदायी नहीं
सिर्फ़ लाचार हैं—
कि कुर्सियाँ बहुत ऊँची हैं
और उनके पाँव निहायत छोटे।

कि हिंदुस्तान का अदना इंसान
'लोकतंत्र' का बादशाह है
इसलिए कि उसके पास अपना एक मत' है
और धुंध में छटपटाती हुई एक दृष्टि
कुचली हुई अँगुलियाँ और टूटे हुए घुटने
और काठ का एक दिल जो बुरी तरह क्षत है
कौन कहता है कि कोई निराश है (?)
हिंदुस्तान का अदना इंसान
'लोकतंत्र' का बादशाह है।

चाक़ू से कुरेद कर निकाल ली गयी हैं
आदमी के पेट की अँतड़ियाँ
अब भूख सिर्फ़ एक दिमाग़ी चुनचुनाहट रह गयी है।

अब किसी की नियति नहीं बन सकतीं
किसी दूसरे की ग़लतियाँ
क्योंकि अब भोगने के सवाल से परे
आदमी अपनी तटस्थता में ज़िंदा है
यह और बात हुई कि कुछ थोड़ा शर्मिंदा है,
फिर भी, सह सकने से कहीं अधिक
ज़िंदगी बहुत कुछ सह गयी है
और भूख एक दिमाग़ी चुनचुनाहट रह गयी है।

बेझिझक हम अपने इतिहास को दुहरायें
और बच्चों की पोथियों को सौंप दें
कुछ ऋषि-वाक्य, नीति-वचन और सत्य को शोधती
तमाम पौराणिक गाथाएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और शंख फूंक कर घोषित कर दें
कि 'महाभारत' का 'शांति-पर्व' भी समाप्त हुआ
श्रोता-गण जहाँ के तहाँ बैठ जायँ
आँखें बंद कर ध्यान करें
एक दिव्य-ज्योति स्फुरित होगी
महा-निर्वाण का अमृत-पर्व
लीन हो जायँ, लीन हो जायँ, लीन हो जायँ!
इंद्रियों को छोड़ दें इतना हल्का
कि कुछ भी न कर सकें महसूस
मशीन हो जायँ, मशीन हो जायँ, मशीन हो जायँ!!

कृत्रिम गर्भाधान और कृत्रिम गर्भपात
टेस्ट-ट्यूब में खौलते हुए आदमी के विचार
एक टुकड़ा ज़िंदगी का दर्द
मसलती हुई चुटकियाँ
कुछ खोजती सी, परेशान वैज्ञानिक आँखें
कुछ टोहती सी, बेजान वैज्ञानिक अँगुलियाँ
दर्द किसे होता है?
होता होगा पक्षाघात-पीड़ित किसी 'मुक्तिबोध' को
विचारों की धुरी की टूटी अराएं लिये
अपनी ही गाँठों में उलझी-पुलझी
पिरा उठती हैं जिसकी धमनियाँ।

दर्द... दर्द... अजी दर्द तो...
एक रासायनिक प्रक्रिया है
हमने किया है परीक्षण, अनुशोधन, अन्वेषण
हम जानते हैं
सो क्या जानें जो दर्द भर जिया है।
...दर्द एक रासायनिक प्रक्रिया है...

कागज नगर, सीरपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नारायण बौडस

दो कविताएँ

एक बदसूरत लड़की

दरवाज़े की चौखट पर
टाँगों को भींचे
सारी शक्ति आँखों में खींचे
यह लड़की (कुँआरी वेचारी!)
रोज इसी तरह,
किसी का इंतजार करती है
हर आदमी से प्यार करती है।

कितनी ही नयी तस्वीरें बनाती है
घंटों उन्हीं में डूब जाती है
इसने बहुत सा सिंदूर जोड़ा है
हर आइना अपनी ओर मोड़ा है।

भाभी-भैया को साथ देखती है—

न जाने कब तक यह रोती रहेगी,
सपनों में साजन की होती रहेगी।

दिशा-ज्ञान

कष्ट तो होगा ही
क्योंकि रात
अँधियारी है।

जुगनुओं का प्रकाश
रास्ता
सुझाने को
लकीर
दिखाने को
काफ़ी नहीं है।

हाँ! यदि ये सब
एक शीशी में
बंद हों—
तब शीशी की
चमक से
दिशा-ज्ञान तो होगा।

गोयल बिल्डिंग, प्रताप कॉलोनी,
हाईकोर्ट के पास, ग्वालियर—१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीहारिका बनर्जी

एक कविता

कभी न कभी
जाना ही था हमें रिक्त
क्योंकि
हम तुमसे छोटे हैं बहु...त।

पर हाँ
कोई तो वरेगा
एक विशालता को जो
दर्द में फैल गयी है।
एक गंभीरता को जो
चिंताओं में घर कर गयी है।
एक प्रौढ़ता को जो
आत्मीयता में समा गयी है।

कभी न कभी
छँटना ही था उस मन को
जिसकी
ऊँचाई तुमसे कम है—बहु...त।

●

फ़्लैट नं० ३२, ब्लॉक नं० २,
राजेंद्र नगर, पटना–४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़्यादती

कहानी

पानू खोलिया

धरम दा का पत्र आया था कि इस साल उनका अंग्रेज़ी में एम० ए० करने का विचार है, मैं अपनी राय दूँ। उसी का जवाब देने जा रहा हूँ।

इतना स्नेहपूर्ण तो भाई साहब का पत्र भी नहीं था! गिन्ता : धरम दा ने दो बार मुझ पर गर्व प्रकट किया था; दो ही बार अपने को कृतकृत्य बताया था। तीन बार भगवान से साग्रह प्रार्थना और चार बार अपनी शुभकामना कि मेरा भविष्य और भी उज्वल और सुखी हो! . . . सोच रहा हूँ, यह बिन बादल बरसात आज कैसे . . . ! उनके एम० ए० के विचार पर मैं अपनी नेक सलाह दूँगा, शायद इसलिए इतना मीठा पत्र . . . लेकिन यह भी कोई खास बात नहीं है। मैं सलाह दूँ या न दूँ, ज्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ेगा, यह मैं जानता हूँ। तो फिर . . . ? फिर . . . ? ठीक! पिछले हफ़्ते मैंने सुरेंद्र को भी अपनी तैनाती की खबर भेजी थी। सुरेंद्र, मतलब धरम दा का भतीजा। ठीक-ठीक! तभी छूटा धरम दा के हाथ से आज पत्र और वह भी इतना हार्दिक!

कोई बात याद आ रही है . . . मन में गुदगुदी लग रही है . . . । तो जवाब में यह भी एक कोने पर लिख दूँ कि इस साल आपके कॉलेज से हिंदी में एम० ए० करने का विचार है . . . !

अठारह-बीस साल का गहरा धुंध। कुछ-कुछ छँट रहा है . . . याद में कुछ उभर रहा है . . . स्कूली जीवन का वह पहला दिन। तीसरी कक्षा। उस लड़के ने मेरी 'स्केल' उठा कर दूर फेंक दी थी। मैं चुपचाप 'स्केल' लेने उठ गया। वापस लौटा, तब तक मेरी ही खड़िया से उसने मेरे बस्ते पर लिख दिया था—'बुधू (बुद्धू) है' और मेरी दवात भी छिपा दी थी। असहाय सा मैं बाँह से आँखें मलता फफकियाँ भरने लग गया।

"धरम दा आ गये! धरम दा आ गये! आ गये . . . आ गये . . ."

सारी कक्षा सन्नाटे के साथ खड़ी हो गयी . . . फिर सारी कक्षा सन्नाटे के साथ बैठ गयी।

"बैठ जाओ।" धरम दा ने मुझसे कहा।

"जी . . . जी धरम दा, इसने मेरी . . . दवात . . ." मैंने फफकते हुए कहना चाहा।

बस, धरम दा ने सड़ाक-सड़ाक मेरी चमड़ी उधेड़ दी, "मैं तेरा धरम दा होता हूँ, नालायक़! मैं तेरे बाप से भी जेठा हूँगा। धरम दा कहता है मुझसे! बदतमीज़! . . . धर्मानंद जी भी कह देता, तो कोई बात नहीं थी। . . ." फिर उनकी मार ढीली पड़ गयी, "कहाँ असभ्यों-जंगलियों से पाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111087

पड़ा है. . .।" उनका सख़्त चेहरा शिथिल पड़ गया और वे खिड़की से बाहर दूर क्षितिज में किसी को गालियाँ बड़बड़ाने लग गये। फिर न जाने कैसे झटक कर उनका ध्यान पल्टा और उन्होंने सारी कक्षा के सामने मुझे दुर्वासाई शाप दे मारा—"इस लड़के का उस्ताद भी विद्या नहीं पढ़ सकेगा, समझ गये ? हाँ.! कभी भी पढ़ गया तो मैं तुम्हारी टाँग से निकल जाऊँगा !"

धरम दा हमें बिहारी के दोहे पढ़ाया करते थे। लगभग हर दोहे के साथ उनकी टिप्पणी रहती, "हुँ ! यह भी कोई लिटरेचर हुआ . . . !" हम सोचते, यह भी अर्थ के भीतर ही आता होगा। फिर गिरधर की कुंडलियाँ चलीं। धरम दा की उकताहट बढ़ गयी। हर कुंडली के साथ ऊपर वाली टिप्पणी और छह गालों पर कस-कस कर छह चाँटे। धरम दा के सूखे लक्कड़ जैसे हाथों से बड़े जोर की लगती थी ! . . .और फिर दूसरी कुंडली शुरू हो जाती। हम गिनने लग जाते कि इस कुंडली में भी छह ही लाइनें हैं या एकाध . . . ! फिर घाघ की कविता चली। धरम दा एक-एक छंद में दो-दो बार जम्हाते और दूर क्षितिज वाले को गालियाँ बड़बड़ाने लग जाते। उस वक़्त उनका मुख रस-चूसे आम के दाने की तरह दिखायी देता। हम भी क्षितिज की तरफ़ देखते, पर हमें कोई भी तो नहीं दीखता वहाँ ! दीखेगा भी कैसे ? कोई हम धरम दा जितने पढ़े-लिखे हैं ? . . .तब तक धरम दा अनिच्छा से नज़र खींच कर किताब में डाल देते। यही क्षण है ! और हममें से कोई एक डरता-डरता खड़ा होता। डरता-डरता पूछता, "गुरु. . .गुरुऽ जी। . . ."इतना पिट कर भी, इतना अभ्यास कर के भी अभी तक हमसे एकबारगी 'गुरूजी !' नहीं बोला जाता, हमें डूब मरना चाहिए ! हमसे पढ़ी जायगी विद्या ? . . .तो ख़ैर, वह पूछता, "गुरू जी ! आप कितने तक पढ़े हैं ?" न जाने कितनी बार पूछ चुके होंगे हम लोग यह प्रश्न। पर धरम दा कभी नाराज़ नहीं हुए इस पर। सुनते ही उनकी उदासी दूर। उनका मुख-कमल खिल उठता। चट से पुस्तक बंद कर मेज़ पर पटक देते और ख़ुद भी मेज़ पर टिक जाते। कहते, "अरे यार ! अब तुम बच्चों को क्या बताऊँ ! काफ़ी झख मारी है। बिये, बी० टी०, साहित्यरत्न, यल-यल० बी०, शास्त्री . . ." अविराम जाने कितना-कितना बोल जाते धरम दा। हम अपना मुँह खोले उनका मुख ताकते रह जाते। हमारी विस्मय-विमूढ़ता देख कर उन्हें फिर हम पर रहम आ जाता। बड़े प्यार से कहते, "तुम लोग ऐसे नहीं समझ पओगे। ऐसे समझो।" खड़िया उठा कर धरम दा श्याम-पट्ट के पास आ जाते और बीच से लिखना शुरू कर देते। उस वक़्त हमें ख्याल आता कि दीवार पर श्याम-पट्ट बनाने वाले को धरम दा के क़द का शायद ध्यान नहीं रहा होगा . . .। वे लिख रहे होते और उनका लिखा हुआ आगे की पंक्ति वालों को नज़र आता हो तो आता हो, हमें तो कुछ भी नहीं सूझता था। शायद यही तरीक़ा ठीक रहता होगा, कि श्याम-पट्ट पर चींटियाँ बनायी जायें और लड़कों की कापी में हाथी-जैसे अक्षर—हम सोचा करते। तभी हमें लगता कि श्याम-पट्ट भर गया है, क्योंकि धरम दा हमारी तरफ़ अधमुड़े हो गये हैं। "अब इधर देखो !" और वे एक बार उस लिखे हुए को ज़ोर-ज़ोर से पढ़ देते—दुहरा-तिहरा कर, "बिये—चौदह, यल-यल० बी०—दो, साहित्यरत्न—दो (बाद में उनके भतीजे सुरेंद्र ने बताया कि वे इन दोनों में पास नहीं थे), शास्त्री—दो, बी० टी०—दो ! . . .इस समय इतना ही जोड़ो।" . . . बाप रे ! धरम दा के बराबर पढ़ा हुआ इस पृथ्वी पर कोई और भी होगा ! इक्कीस दर्जे तक तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़े हैं. . .हद है ! "समझ गये, इतने तक पढ़ा हूँ।" उनके अधर स्मितरंजित हो रहे होते; चेहरे की रंगत भरपूर यौवन को प्राप्त हो रही होती। और फिर धरम दा उछल कर मेज़ पर जा बैठते, उनके नन्हे-नन्हे पाँव नीचे को झूल रहे होते और हाथ मेज़ पर टिके हुए। एक-एक दर्जे का बड़ा दिलचस्प बयान शुरू हो जाता. . .फिर न मालूम उनमें औचक ही वह कौन सी लख उठ आती कि बयान करते-करते वे मेज़ से कूद कर झाड़न उठा लेते और दो ही रगड़ में उस सारे को साफ़ कर डालते, "खाक पढ़ा हूँ !" उनका चेहरा—जैसे धतूरा पी बैठे हों वे। इसके बाद उस दिन उनसे कुछ भी न पढ़ाया जाता। वे चरमराती कुर्सी पर निढाल हो जाते, पलकें ढर जातीं, मुख निस्तेज. . .ठंढा ! हम लोग सिहर उठते कि अभी-अभी धरम दा को क्या हो गया ! कहीं कुछ. . .! और हमारा 'मॉनीटर' दौड़ा-दौड़ा पानी ले आता एक पिचके हुए बाबा आदम के ज़माने के लोटे में। तब तक धरम दा की आँख की पँखुरियां खुलने लगतीं, धीरे-धीरे। "गुरू जी, पानी।" और धरम दा लोटे को हाथ में ले कर यों देखते जैसे अपने किसी जानी दुश्मन को घूर रहे हों। पानी पी कर लोटा कोने में लुढ़का दिया जाता। वे उठते, छह महीने के बीमार की तरह, और श्याम-पट्ट पर एक असूझ वाक्य लिख देते, "ठीक ऐसे ही अपनी सुलेख की कापी में बीस बार लिखो चुपचाप नहीं तो हड्डी-पसली एक कर दूंगा. . ." हड्डी-पसली एक कर देने की बात उनके मुंह से इतने कमज़ोर ढंग से निकलती, जैसे पूछ रहे हों—'मेरे हाथ-पाँव दबा दोगे ज़रा ?' और धूप-छाया चश्मा निकाल कर कुर्सी पर पूर्ववत अधलेटे हो जाते। . . .घंटा बीत गया होता, पर धरम दा वैसे ही अधलेटे, उस चश्मे से हमें घूरे जा रहे हैं। 'मॉनीटर' साहस कर उठता, "गुरू जी, घंटा हो गया है। हम पी० टी० करने जायें ?" लेकिन गुरू जी तो उसी तरह घूरे चले जा रहे हैं ! वह डर जाता तो साथ देने को दूसरा लड़का खड़ा होता, "गुरू जी ! . . ." ज़रूर धरम दा आज. . .! फिर तीन-चार लड़के मिल कर खड़े होते, "गुरू जी ! . . ." और हमारी जान में जान आती, जब धरम दा हड़बड़ा कर चश्मा उतार डालते। और फिर उन चारों लड़कों को मुर्ग़ा बनाया जाता, "बेईमानो ! शोर करते हो ! मुझे नहीं पता ? मैं एक-एक की हरकत देख रहा था. . .ऐं ! घंटा . . .वह तो मुझे मालूम है। अच्छा भाग जाओ !"

उसी साल हमारा स्कूल पास वाले मिडिल स्कूल के साथ जोड़ दिया गया—धरम दा हमसे छिन गये। अब वे सातवीं-आठवीं वालों को पढ़ाते हैं। बड़े भैया उस रोज़ कह रहे थे कि धरम दा ने उन्हें भी अपना 'इक्कीस दर्जा पास' का जोड़ बता दिया है, पर अब वे उस क्षितिज वाले के लिए बहुत कम गालियाँ बड़बड़ाते हैं।

हम चौथी में चढ़ गये. . .हम पाँचवी में आ गये. . .कि एक दिन न जाने हमारे भाग्य की वह कौन सी खिड़की खुल पड़ी—हिंदी के घंटे में धरम दा ! हम बहुत ख़ुश। वे बहुत ख़ुश। आते ही आते अनार का दाना सा फोड़ दिया, "तुम्हारे पंडज्जी कैसा पढ़ाते हैं तुम्हें ? मेरा ही जैसा पढ़ाते हैं ?"

"कहाँ गुरू जी ! . . ."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तुम जंगलियों को बोलने का भी सहूर है ?"

इस अचानक की कड़क से हम सब आतंकित। कौन सी ग़लती हो गयी इस बार? 'गुरू जी' तो कहा था! . . .पर उन्होंने खुद ही हमारी उलझन दूर कर दी, "गुरू जी! . . .असम्य कहीं के! जंगली! बर्बर! . . .मास्टर साहब नहीं हो सकता तुमसे? . . ." और फिर खुद ही शांत भी पड़ गये, "वह तो होगा ही! मेरा जैसा उन बेचारों से कहाँ पढ़ाया जायगा भला! कितने तक पढ़े हैं वे? . . .दस तक! फिर कहाँ दस और कहाँ—और हाँ, इस साल मैंने यमे भी पास कर लिया है हिंदी में। अब हिस्ट्री में और कर रहा हूँ यमे. . .समझ गये? . . .अरे हिस्ट्री इतिहास को कहते हैं!"

"जी गुरू. . .मास्टर साब, यमे कितना दर्जा होता है?"

"इतना भी नहीं जानते. . .? सोलह दर्जा होता है।"

बाप रे! धरम दा सोलह दर्जा और पढ़ गये! और एक सोलह दर्जा अभी और पास कर रहे हैं. . .! इक्कीस और सोलह. . .सैंतीस, सैंतीस और सोलह. . .माथे की नसें चटखने लग गयीं हमारी।

"वह तो तुमने पिछले जनम में कोई पुण्य किया होगा, नहीं तो तुम छोकरों को पढ़ाता मैं!"

बात तो धरम दा सही कह रहे हैं, हमने सोचा।

"कौन सा पाठ पढ़ रहे हो आजकल?"

हम सिहर गये और गाल मलने लग गये, क्योंकि आज 'राम-सुग्रीव-भेंट' वाला पाठ चलना था, जिसमें छोटी-छोटी कितनी ही पंक्तियाँ थीं। सोच लिया, आज खैर नहीं! . . .तब तक किताब उनके हाथ में पहुँच चुकी थी। कुछ देर वे नाक-भौं सिकोड़ कर पाठ को देखते रहे। फिर बोले, "लो, सम्हालो। अब ऐसा तीन कौड़ी का पाठ क्या पढ़ाऊँ तुम्हें। यह तो तुम अपने पंडज्जी से ही पढ़ लेना।"

हमारी साँस अब सामान्य चल रही थी। वे कह रहे थे, "आज तुम्हें कुछ ऊँची चीजें सुनाता हूँ. . .सुनो।" और 'राम को रूप निहारति जानकी. . .' से शुरू कर 'केसव केसनि अस करी. . .', 'हँसि बोलनि में छबि फूलन की. . .' के रास्ते होते हुए जाने कहाँ-कहाँ पहुँच गये धरम दा! घंटा बीतते भी सुनाते-समझाते रहे। आखिर में उठते हुए बोले, "इसे कहते हैं लिटरेचर! समझ गये?". . .हम कुछ-कुछ समझ रहे थे।

फिर तो हमने धरम दा को पकड़ने की लाख कोशिश की, पर वे हाथ से उड़ा तोता बन गये थे। हम सातवीं में पहुँचे, तब तक वे दसवीं वालों को पढ़ाने लग गये। हम दसवीं में पहुँचे, तो वे कूद कर इंटर में! डर था, कहीं इंटर में भी हाथ से न फिसल जायें, क्योंकि उस साल बी० ए० का क्लास भी शुरू हो गया था। लेकिन इस बार वे हमें मिल ही गये। बोले, "बिये को पढ़ा देने के लिए स्कू. . .कालेज वाले लगे तो बहुत थे, पर मैंने ही मना कर दिया। . . .थक भी तो गया हूँ।" उनके ये शब्द ठंढे थे, एकदम मुर्दा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहला घंटा उन्हीं का होता था। वे शायद ही कभी समय पर कक्षा में पहुँचे हों। आते ही कहते, "आज ज़रा छोटे विनोद को हास्पिटल ले गया था।...आज ज़रा विनोद की माँ की तबियत ठीक नहीं थी!...आज खुद ही रसोई बनानी पड़ी। इन औरतों के साथ हर महीने यही तो झंझट रहती है।...", यह सब वे बड़े गंभीर ढंग से कहते। कभी-कभी कहा करते, "इस साल अंग्रेज़ी में यमे कर लेने की सोच रहा हूँ...रात में देर तक जागता रहा, इसलिए इस वक्त नींद देर में खुली।" और हम जोड़ने लग जाते—इक्कीस और सोलह...और सोलह...! और सोलह...!!

आगे की पंक्ति धरम दा के थूक के छींटों के लिए ख़ाली छोड़ दी जाती। सिर्फ़ उस कोने में संतोष और रमा, और...और रजनी छुई-मुई बनी रहतीं। जब-तब धरम दा कहा करते, "मैं कोई हौवा हूँ, जो इस पंक्ति में बैठने पर तुम्हें हप्प कर जाऊँगा?" 'हप्प' बोलते वक़्त लगता, जैसे उन्हें ज़ोर की एक ऐसी हिचकी आयी जिसमें होंठ भी सट जाते हैं!...कुछ दूर तक हमारी हँसी में उनका भी सहयोग रहता, फिर सहसा ही वे बिफर उठते, "बाँस के लठइये-जैसे आ जाते हैं पढ़ने को और खि-खि-खि दाढ़ तान देते हैं! एक ग्वांक-जैसी छोड़ दूँगा तो संड-मुसंडों की सारी हँसी एक ही रास्ते से सरक जायगी!" विशुद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति के क्षण होते ये! यही भाषा धरम दा की प्रतिनिधि भाषा थी। फिर वे अनमने हो कर पुस्तक खोल लेते और तुलसी पढ़ाने लग जाते। तुलसी की भक्ति-भावना में ही साल निकल गया। बाक़ी कबीर, सूर, जायसी और बिहारी को, उन्हीं के शब्दों में, 'घास कटायी' कर के एक महीने में साफ़ कर दिया गया। हमसे पहले के विद्यार्थी बतलाते थे कि धरम दा बिहारी में ही साल बिता देते हैं। फिर क्यों हमारे वक़्त ही तुलसी...? हम सोचा करते।

हम इंटर फ़ाइनल में पहुँचे। कॉलेज खुला। धरम दा रास्ते में ही दीख गये। दाढ़ी के साथ मूँछें भी घुटी हुई थीं। हम धक् रह गये। पर तभी ध्यान में आया कि धरम दा का तो हुलिया ही बदला हुआ है आज! सिर पर की जन्मजात टोपी ग़ायब। कोट की जगह टेरेलीन की बुश-शर्ट...पैरों में चरमराता पच्चीस रुपये का जूता! हम सब ने अदब से 'मास्साब, नमस्कार' कहा। उन्होंने चेहरा निचोड़ते हुए हमारी तरफ़ देखा, जैसे हमने कोई गाली निकाली हो। डपटते से बोले, "नमस्ते!" और पैंट की जेब में हाथ डाले हमसे आगे निकल गये।...धरम दा की वह खरामा-खरामा चाल, जिसमें बायाँ हाथ कोई पुस्तक थामे सीधे लटक रहा होता था और दाहिना पीठ के रास्ते जा कर उसे कुहनी के पास सहारा दिये होता था, आज कहाँ चली गयी? यह तो वह चाल नहीं है, यह दुलत्ती झाड़ती सी चाल! और हमने एक आह भर ली—'वह लटकनि औरै कछू...!' और जब तीसरे दिन...या शायद चौथे दिन, शाम को हम सुरेंद्र के साथ जा कर धरम दा के घर एक-एक प्याला चाय और एक-एक रसगुल्ला पी-खा आये तब माल रोड पर बड़ी देर तक हमारे मन में गूंजता रहा, 'सुगना हे मोर कतय गेला...?' धरम दा हमसे फिर छिन गये। अब वे बी० ए० को पढ़ायेंगे, हमें नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और एक दिन कुछ कार्यवश मुझे उनके पास जाना पड़ा। अध्यापक-कक्ष में बैठे वे शायद 'क्लास-नोट्स' तैयार कर रहे थे। चिक उठा कर मैंने पूछा, "जी, अंदर आ सकता हूँ ?"

"येस, कम इन !"

मैं चौंका। पर वे धरम दा ही थे।

"मास्साब..." मैंने पास जा कर कहना चाहा। उन्होंने शायद सुना नहीं। फिर कहा, "मास्साब..." तीसरी बार फिर, "मास्स..."

"क्या मास्साव-मास्साव लगा रखा है ! तुमसे 'सर' कहते नहीं बनता ?...कौन से दर्जे में पढ़ते हो ?" और उन्होंने मुझे सिर से पाँव तक घूर लिया।

धरम दा मुझे भूल गये !...

और जब मैं लौटा तब सोच रहा था कि धरम दा अब गुरू जी भी नहीं रह गये...मास्साब भी नहीं रह गये, सर रह गये हैं...: सिर्फ़ सर...! आदमी भी तरक्क़ी करता-करता कहाँ का कहाँ पहुँच जाता है !...और सर के बाद क्या आता होगा...

क़िस्मत की मार से घर की अभावग्रस्त परिस्थितियों से विवश हो कर बी० ए० के बाद बी० टी० में दाखिला लेना पड़ा। धरम दा बी० टी० में ही ! 'लैंग्वेज टीचिंग' पढ़ाते थे। उपस्थिति लेते। कोई लड़की अनुपस्थित हुई तो चट से धरम दा पिछले दो-तीन महीनों की उपस्थिति के पन्ने पलटते। फिर कमर सीधी कर, चश्मा उतारते हुए बड़ी चिंताकुल गंभीरता से कहते, "यह लड़की पिछले महीने भी इन्हीं दिनों एबसेंट रही, और उससे पिछले महीने भी..." सुन कर कक्षा में हँसी का तूफ़ान आ जाता। सिर्फ़ लड़कियों के सिर कंधों के बीच डूब जाते।...और फ़ौरन 'लेक्चर' शुरू हो जाता—'द टीचर सुड...शुड डेवलऽप (उसी 'हप्प' के वज़न का) ए कीऽऽन ऐस्थेटिक सेंस इन द ब्वायज़', एक-एक शब्द चबाया हुआ। कुछ ही देर बाद अंग्रेज़ी और हिंदी की खिचड़ी...। फिर शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिंदी...और 'लेक्चर' की समाप्ति तक वे अपनी प्रतिनिधि भाषा में पहुँच गये होते।

"सर, आज तो लेक्चर सुनने का मूड नहीं है। आज तो बिहारी के दो-चार..."

फ़रमाइश सुन कर धरम दा नीचे मेज़ की तरफ़ ताकते हुए बुझते-से मालूम होते, खो जैसे जाते। फिर सिर उठा कर कक्षा की तरफ़ देखते और कठिनाई से मुसकराते हुए निहायत थके हुए लहजे में कहते, "अब बिहारी कहाँ याद रहे भाई ! कभी रहते थे, बहुत रहते थे। फिर कभी तुलसी ही याद आते थे।...अब तो बिहारी भी भूल गये हैं, तुलसी भी भूल गये हैं। एक कबीर याद रह गये हैं, बस !"

यादों के उस सावन में फिर पिछला जीवन उमड़ आता, "कभी जब तुम लोगों की उम्र का था तब रात-रात भर पढ़ता रहता था। सोच सकते हो...डबुल यमे किया, बीटी किया, यलयल० बी० भी किया ही। शास्त्री किया, आचार्य किया...अब क्या हो सकता है ! और हाँ, साहित्यरत्न के पीछे भी दो साल लगाये...तुम्हारे ये हिंदी के डाक्टर फलाँ डाक्टर फलाँ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये सबै बीयच्यू में मेरे क्लास-फ़ेलो थे। रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदर दास जी ने तो मुझे पढ़ा रखा है बिये में! मुझ पर बड़ा स्नेह रखते थे। अगर तुम्हारे इस कालेज को मिडिल से यहाँ तक उठाने में अपने को नहीं खपाता, तो कब का पीयचडी हो गया होता, बल्कि आज तक तो डीलिट भी . . ."

"सर, पी-एच० डी० के लिए तो गुड सेकेंड क्लास . . ."

"अरे तो मेरे भी कौन से थर्ड क्लास नंबर थे। दो ही नंबर तो कम थे सेकेंड क्लास में से। आचार्य में फिफ़्टी-नाइन परसेंट टोटल था, फिफ़्टी-नाइन! . . ." वे कुछ रुक जाते और फिर धीरे से कहते, "इस साल इंगलिश में यमे करने की सोच रहा हूँ . . . देखो क्या होता है . . . !"

और हम जोड़ने लग जाते—फ़र्स्ट इयर—एक, सेकेंड ईयर—दो, थर्ड इयर—तीन, फ़ोर्थ इयर—चार और यह पाँच . . . ।

धरम दा मेरे 'क्रिटिक' थे। रोज़ 'टीचिंग' में आ कर 'क्रिटिसिज़्म' दे आया करते थे। रास्ते में भी अक्सर 'नमस्कार' कर लिया करता था। बी० टी० में आ कर उनकी वह लटकती-मटकती सी चाल फिर से वापस आ गयी थी। एक रोज़ कॉलेज से लौटते वे मुझे रास्ते में मिल गये। नमस्कार किया और आगे बढ़ गया। पंद्रह-बीस क़दम गया हूँगा, "क्यों जी, कर लिया तुमने इंटर? . . . क्या नाम तुम्हारा . . . शेर सींग!"

मैं चौंक कर मुड़ा, "जी . . . ? इंटर तो कभी का कर लिया था, चौवन में ही! मैं तो बी० टी० में हूँ! . . ."

"तभी तो पूछ रहा हूँ। . . . तो बिये भी कर लिया होगा तब तो?"

"जी हाँ, तभी तो बी० टी० में आया हूँ!"

'अच्छा! बिये भी कर लिया! . . . चलो खुशी की बात है। . . . ये ठीक किया तुमने जो बी० टी० में भरती हो गये। खूब मेहनत करना। हो ही जाओगे पास भी। कल को मास्टरी भी मिल ही जायगी कहीं। यमे करने में क्या धरा है! . . ."

" . . .

बी० टी० कर लिया। दूर देहात के एक हाईस्कूल में सवा सौ की मास्टरी में चिपक गया और नोन-तेल-लकड़ी के कोल्हू में जुत गया। उमंगों की कलियाँ, आशाओं की लताएँ—सब जेठ की तपन में झुलसती रहीं . . . ।

दशहरे की छुट्टियाँ पड़ीं। मैं शहर पहुँचा। एक हाथ में गंदे कपड़ों से ठुँसा बेग और दूसरे में छतरी। शहर की तरो-ताज़गी, जगमगाहट और चहल-पहल देख-सूँघ कर लग रहा था कि मैं किस जंगल से छूट कर आ पहुँचा यहाँ! . . . अपना शहर आज अजनबी सा लग रहा था और मैं घर का रास्ता नापे जा रहा था।

"क्यों जी शेर सींग!"

मैं चौंक कर पीछे को मुड़ा। पान की दुकान के सामने धरम दा! "लग गयी नौकरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारी ?" वे मुस्करा रहे थे। मैं उनके पास पहुँचा। जवाब दिया। धरम दा मेरी पीठ पर हाथ धरे अपने मित्रों को मेरा परिचय देने लगे, "इस शेर सींग को थर्ड से पढ़ाया है मैंने। बड़ा गऊ लड़का! और बेचारा पढ़ने में भी बड़ा होशियार! बिये में फिफ्टी-फाइव परसेंट एग्रीगेट था इसका! बीटी में भी डबुल सेकेंड डिवीजन मार लाया! . . ."

मेरी कोफ़्त . . . मत पूछिए! उनके मित्र 'हुँ . . .हुँ' कर पान के बीड़े मुँह में ठूँसते रहे, अँगुलियाँ सिर पर पोंछ कर सिगरटें जलाते रहे! . . . पनवाड़ी ने धरम दा को पान दिया। उन्होंने उसे मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने एक क़दम पीछे हट कर लज्जा से मुस्कराते हुए हाथ जोड़ दिये।

"अरे लो भी यार! शरमाओ मत। अब तो तुम भी गुरु, हम भी गुरु. . . ।" और खिलखिला पड़े।

छतरी कंधे पर डाल कर पान लेना ही पड़ा।

धरम दा ने मित्रों का साथ छोड़ दिया और मेरी बाँह में बाँह डाले ऐसे चल पड़े जैसे बहुत दिनों बाद मिले दो लँगोटिया यार।

दूसरे रोज़ घर पर बुलाया गया मुझे। पकौड़ियाँ और चाय। और गप्पें—बाल-बच्चों की, आर्थिक समस्याओं की, कॉलेज की . . . ।

इसके बाद जब भी छुट्टी पर घर जाता, धरम दा बड़ी बेतकल्लुफ़ी से मिलते। हम दोनों पान चबाते माल रोड पर टहला करते। एक-दो बार दोस्ताना तौर पर उन्होंने मुझे पत्र भी लिखे, जो इतनी कठिन अंग्रेज़ी में हुआ करते थे कि मुझे कोश में अर्थ ढूँढ़ना पड़ता था।

हाईस्कूल की मास्टरी घिसते-घिसते दो साल हो गये। तभी सुनने में आया कि धरम दा वाले कॉलेज़ में जुलाई से एम० ए० की कक्षाएँ खुल रही हैं। बस, जुलाई में नौकरी छोड़ कर अंग्रेज़ी में एम० ए० करने आ पहुँचा।

एक रोज़ शाम को ऐसे ही बाज़ार के रास्ते घूमने जा रहा था। धरम दा दीख गये, उसी पनवाड़ी की दूकान पर। अकेले थे। मुझ पर नज़र पड़ी तो पनवाड़ी के हाथ का पान छोड़ कर आ लपके, "कहो जी,शेर सींग, कब आये ?" और पनवाड़ी के पास खींच कर दो पान का 'ऑर्डर' दे कर बोले, "हाँ, तो कब आये ?"

"जी, पंद्रह-बीस दिन हो गये हैं आज।"

"पंद्रह-बीस दिन हो गये! दिखायी तो नहीं दिये आज तक। . . .ऑन लीव होगे ?"

"जी नहीं . . .यहाँ एम० ए० कर रहा हूँ, अंग्रेज़ी में।"

"क्या कहा ?" उनका हाथ मेरी पीठ से गिर गया था, "यमे कर रहे हो ? अच्छा! हमारे ही कालेज में! हूँ . . . !" देखते-देखते धरम दा गंभीर। एकदम तन गये और मुझसे एक क़दम हट कर खड़े हो गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पनवाड़ी ने पान लपेट कर उन्हें दिया। एक पान की क़ीमत दस पैसे का सिक्का फेंक कर उन्होंने पान मुँह में भर लिया, अँगुलियाँ सिर पर फेर लीं और पैंट की ज़ेब में हाथ डाले उसी गंभीरता से एक तरफ़ को बढ़ गये। मैंने नमस्कार किया। उन्होंने प्रोफ़ेसरी अंदाज़ में सिर को एक छोटा सा झटका भर दे दिया।...

फिर दो साल के दौरान कभी भी धरम दा ने पान नहीं खिलाया, कभी भी दोस्ताना तौर पर पीठ पर हाथ नहीं रखा, कभी भी...!

धरम दा का पत्र उठा लिया है। इस बार अंग्रेज़ी में नहीं हिंदी में लिखा गया है—'भाई, इस साल तो मैं भी अंग्रेज़ी में एम० ए० कर ही लेने की सोच रहा हूँ। तुम्हारी क्या राय है? कोई ट्रिक लिख भेजना जिससे मेरा भी डिवीज़न बन जाय...'

मैंने इंटर चौवन में किया था। चौवन एक, पचपन दो, छप्पन...और यह तिरसठ, दस...! अबके धरम दा एम० ए०—बल्कि यमे ज़रूर कर लेंगे!

सोच रहा हूँ, इस वक़्त अपनी सहमति भर लिख कर भेज दूँ। बाक़ी, बाद में छुट्टी पर जाऊँगा ही। धरम दा पान खिलायेंगे ही। इस मर्तबा वह पिछली बार वाली ग़लती नहीं दुहराऊँगा। पहले पान का बीड़ा मुँह में दबा लूँगा, उसके बाद पूरे इत्मीनान से, निहायत नरमाईके साथ कहूँगा, 'इस साल तो साहब, आपके कॉलेज से हिंदी में एम० ए० करने आया हूँ...!' उस क्षण की धरम दा की औचक ही बदल गयी मुख-मुद्रा और चेष्टाएँ आँखों में खिंची-खिंची जा रही हैं...। जैसे एक बार फिर 'गुरु जी' का खिंच कर 'गुरूऽ जी' बनना पड़ गया हो।

—हिंदी विभाग, एम० एस० जे० कॉलेज,
भरतपुर (राजस्थान)

महिलोपयोगी एकमात्र उत्कृष्ट मासिक

शृङ्गार

प्रबंध संपादक : देवेंद्र अग्रवाल

संपादिका : लावण्य प्रभा

- विचारपूर्ण व उपयोगी लेख
- महिलोपयोगी रुचिकर सामग्री
- रोचक मनोवैज्ञानिक कहानियाँ
- कविताएँ तथा सुंदर गीत
- महिलाओं के इंटरव्यू
- गृह-सज्जा, प्रसाधन-समस्याएँ, विचार-मंच आदि अनेक रोचक स्थायी स्तम्भ

**१३।३७, शक्तिनगर,
दिल्ली-७
फोन : २२७३००**

**मूल्य : वार्षिक : ५ रु०
मासिक : ५० पै०**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कस्तूरचन्द जैन

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : व्यक्तित्व और समीक्षा

भारतीय परंपरा के रसवादी कला-चिंतक, आधुनिक काव्य-मीमांसा के प्रतिष्ठापक और शुक्लोत्तर हिंदी समीक्षा के युगप्रवर्तक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का जन्म संवत १९६३ : भाद्रपद कृष्ण १५, रविवार को उन्नाव ज़िले के मगरायर नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता स्वर्गीय पं० गोवर्धन लाल वाजपेयी अपने युग के कट्टर आर्यसमाजी व्यक्ति थे। आचार्य वाजपेयी जी की प्रारंभिक शिक्षा पूज्य पिताश्री के संस्कारशील सहवास में हजारीबाग में हुई। सन १९२५ में उनका विवाह भगवंत नगर हरदोई के पं० रामनारायण मिश्र की सुपुत्री सुश्री सावित्री मिश्र से हुआ। इसी वर्ष वे इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण कर आगामी अध्ययन के लिए प्रयाग पहुँचे।

साहित्य-जगत में आचार्य वाजपेयी का प्रवेश कुछ कविताओं और निबंधों के माध्यम से उस समय होता है जब वे काशी विश्वविद्यालय में बी० ए० के छात्र थे। वाजपेयी जी की कवि-प्रतिभा से बहुत कम लोग परिचित हैं। सन १९२९ में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरांत प्रायः ४ वर्षों तक आप प्रयाग में ही 'भारत' के संपादक रहे। 'भारत' के प्रबंधकों से कतिपय मतभेद होने पर आपने नौकरी छोड़ दी और थोड़े ही समय पश्चात गुरुवर आचार्य श्यामसुंदरदास के आदेशानुसार आप नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा आयोजित प्राचीन ग्रंथों के संपादन-कार्य में जुट गये। परिणामतः 'सूरसागर' और 'रामचरितमानस' जैसे ग्रंथों का आधिकारिक और प्रामाणिक संस्करण कदाचित पहली बार हिंदी जगत को प्राप्त हुआ। यह कार्य प्रायः ६ वर्षों में (सन १९३३-३९) संपन्न हो सका।

सन १९४१ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निधन से रिक्त हुए स्थान पर आचार्य वाजपेयी जी की नियुक्ति काशी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक-पद पर हुई। इस पद पर कार्य करते हुए आपने प्रायः ५-६ वर्षों तक नये साहित्यकारों की प्रतिनिधि संस्था 'प्रगतिशील लेखक-संघ' का संचालन किया और इस कालावधि में उसे राजनीतिक प्रभावों से मुक्त रखा। सागर विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर सन १९४७ में आप वहाँ हिंदी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। आचार्य वाजपेयी जी की प्रतिभा, पांडित्य और अद्‌भुत कार्य-क्षमता के बल पर सागर जैसा निर्जन प्रदेश भारत का हिंदी तीर्थ बन गया और समीक्षा-जगत में 'सागर स्कूल ऑफ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिटिसिज्म' की स्थापना हुई। सागर विश्वविद्यालय के निर्माण और विकास में वाजपेयी जी की प्रशासनिक सेवाओं का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। संप्रति, वे विक्रम विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं और इस पद पर कार्य करते हुए अल्पावधि में ही उन्होंने शिक्षा-जगत के इतिहास में कुछ नये अध्याय जोड़े हैं। कदाचित वे प्रथम भारतीय उपकुलपति हैं जिन्होंने विश्वविद्यालयीन स्तर पर अंग्रेजी के अनिवार्य अध्ययन को पूर्णतः वैकल्पिक बनाने का साहसिक किंतु राष्ट्रीय और प्रजातांत्रिक क़दम उठाया है। शिक्षा और साहित्य की आधारभूत समस्याओं के निराकरण में आचार्य वाजपेयी जी ने राष्ट्रीय जीवन की जिस प्रगतिशील भूमिका का निर्वाह किया है, वह इन क्षेत्रों में बीसवीं शती की महानतम उपलब्धि समझी जायगी।

हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का प्रवेश सन १९२६-२७ के लगभग उस समय हुआ जब आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्यादर्श पुरानी पीढ़ी को जीवन-शक्ति प्रदान कर रहे थे और शिक्षा तथा समीक्षा-जगत में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आचार्यत्व निरंकुश शासक की तरह सर्वत्र छाया हुआ था। आचार्यद्वय के नीतिमूलक स्थूल आदर्शवाद के विरोध में वाजपेयी जी सामंजस्यमूलक युगानुरूप नव्यतर काव्य-मानों के प्रतिष्ठापनार्थ हिंदी में आये। उस समय हिंदी के छायावादी नवयुवक कवियों को एक ऐसे समीक्षक की आवश्यकता थी जो उनकी बंधनविहीन किंतु स्वस्थ और तीव्र अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के नवीन परिवेश को काव्य-जगत में प्रतिष्ठा देता। वाजपेयी जी नयी कविता के संदेशवाहक बने। उन्होंने नये काव्य और कवियों पर अनेक लेख लिखे जो 'भारत', 'माधुरी' और 'वीणा' आदि प्रमुख तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित हुए और आगे चल कर जिनमें से अधिकांश लेखों का संग्रह-प्रकाशन 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में हुआ।

'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' यद्यपि वाजपेयी जी के प्रारंभिक लेखन (सन १९२८ से १९३५ तक) का प्रथम संग्रह-ग्रंथ है परंतु इन लेखों की तीव्र बौद्धिक पैठ और सूक्ष्म विवेचन-शक्ति ने समीक्षा-जगत की द्विवेदीयुगीन जड़ीभूत मान्यताओं को झकझोर दिया। कदाचित पहली बार साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन इन निबंधों में हुआ था। हिंदी समीक्षा के इतिहास में इस ग्रंथ का प्रकाशन युगांतरकारी रहा है। इस ग्रंथ ने वाजपेयी जी को छायावादी समीक्षा के रूप में प्रतिष्ठित किया और छायावादी कवि को कविता के राजसिंहासन पर बिठा दिया।

सन १९३४ के बाद वाजपेयी जी की आलोचना छायावादी प्रगीत-काव्य से आगे बढ़ कर हिंदी साहित्य की सभी विधाओं तक धीरे-धीरे प्रसारित हुई। 'आधुनिक साहित्य' और 'जयशंकर प्रसाद' इसी विकास के सूचक-बिंदु हैं। सन १९४० से ५० तक का काव्य-चिंतन प्रमुखतः 'आधुनिक साहित्य' के निबंधों में समाहित है। बीसवीं शताब्दी की प्रतिनिधि गद्य-रचनाओं, साहित्य-विधाओं, प्रमुख काव्य-धाराओं और छायावादी-युग के शीर्ष कृतित्व की व्याख्या तथा आशंसा इन निबंधों में हुई है। प्रयोगवाद और नयी कविता की सामयिक रचनाओं पर कदाचित पहली बार वाजपेयी जी ने इस पुस्तक में विचार किया, जिससे अनेक नये कवि अकारण ही रुष्ट हो गये और वाजपेयी जी को नयी कविता का विरोधी समझ बैठे। सन १९५६ में प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रयोगवादी रचनाएँ' और 'नयी कविता' शीर्षक निबंधों ने भी इस विरोध का मार्ग प्रशस्त ही किया। वस्तुत: नयी कविता और प्रयोगवाद की कतिपय प्रवृत्तियों और रचनाओं से वाजपेयी जी का विरोध साधारणीकरण की रसभूमिका पर था जिसे प्रयोगवादी समीक्षक दुर्भाग्यवश आज अव्यावहारिक समझने लगे हैं।

'नया साहित्य : नये प्रश्न' वाजपेयी जी के सन १९५० से ५५ तक के प्रौढ़ चिंतन का परिणाम है जिसमें साहित्य की परिवर्तित धाराओं और प्रमुख काव्य-कृतियों तथा रचनाकारों का युगीन पृष्ठभूमि पर गहन सैद्धांतिक विश्लेषण हुआ है। इसी बीच सन १९५० में 'सूरदास' और ५३ में 'प्रेमचंद' का प्रकाशन हुआ। इन सभी रचनाओं में प्राचीन और आधुनिक साहित्य पर वाजपेयी जी की गंभीर अंतर्दृष्टि का प्रसार और नव्यतर काव्य-मूल्यों का सैद्धांतिक आकलन है।

'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध' लगभग एक दशक के अंतराल पर प्रकाशित ऐसी कृति है जिसमें त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'आलोचना' के संपादकीय वक्तव्य, भारतीय हिंदी परिषद् के अध्यक्षीय भाषण तथा कुछ पूर्व प्रकाशित और अप्रकाशित निबंध सम्मिलित हैं। इन सभी निबंधों में पिछले दशक के राष्ट्रीय साहित्य की एक अंतर्धारा निहित है। 'कवि निराला' वाजपेयी जी की सद्य: प्रकाशित पुस्तक है जिसमें महाकवि के व्यक्तित्व और कृतित्व का तलस्पर्शी आधिकारिक विवेचन है। 'आधुनिक काव्य : रचना और विचार' तथा 'प्रकीर्णिका' शीर्षक दो अन्य संग्रह-ग्रंथ इधर प्रकाशित हुए हैं जिनमें वाजपेयी जी के स्फुट निबंधों का संकलन हुआ है। तुलसीदास पर लिखे गये अनेक निबंध भी पुस्तकाकार प्रकाशन के क्रम में हैं। 'राष्ट्रभाषा की समस्याएँ' वाजपेयी जी की दक्षिण भारत यात्रा के वे संस्मरण और अनुभव प्रस्तुत करती हैं जिनका संबंध अहिंदी-भाषी प्रदेशों में हिंदी के संवर्धन और प्रसार से है। केंद्रीय सरकार के आमंत्रण पर आचार्य वाजपेयी जी ने अगस्त-सितंबर, '५९ में केरल प्रदेश की अभिभाषण-यात्रा की थी। इसी पृष्ठभूमि में 'राष्ट्र-भाषा की समस्याएँ' पुस्तक की रचना हुई।

हिंदी में आचार्य वाजपेयी रसवादी, सौष्ठववादी, सौंदर्यवादी और स्वच्छंदतावादी समीक्षक कहे जाते हैं। रस की पूर्वी और पश्चिमी मान्यताओं का सामंजस्य कर उन्होंने परंपरागत भारतीय रस-सिद्धांत को युगीन संदर्भ में एक स्वस्थ भूमिका प्रदान की है। उनका रस-चिंतन आचार्य रामचंद्र शुक्ल के स्थूल लोकवाद और डॉ० नगेंद्र के व्यक्तिवादी मनोविश्लेषण की एकांतिक भूमि पर अवस्थित नहीं है। सौंदर्यजन्य रस या आनंद की युगानुकूल जीवन-संबद्ध संस्थिति को स्वीकार कर वाजपेयी जी काव्य को सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना का स्वस्थ प्रतिबिंब मानते हैं। साहित्य में इसीलिए वे स्थूल उपयोगिता और व्यक्तिगत कुंठाओं के प्रकाशन का विरोध करते हैं। उनका निश्चित मत है कि सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन की प्रगतिशील भूमिका का निर्वाह कर ही हमारा नया कवि स्वस्थ मानव-मूल्यों का आकलन कर सकता है। उन्होंने स्वीकार किया है कि **मेरा उद्देश्य उस युग-चेतना को अंगीकार करना है जिसके अंतर्गत श्रेष्ठ साहित्य-सर्जन की संभावना है।** समाज और राष्ट्र की विकासशील भूमिका पर आधारित वाजपेयी जी का यह संश्लिष्ट काव्य-चिंतन 'बीसवीं शताब्दी' में घोषित सप्तसूत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा-प्रणाली के बीज रूप में क्रमशः विकसित और अनेक रूपों में पल्लवित हो कर 'कवि निराला' की व्यावहारिक समीक्षा-सरणि में परिपुष्ट और समुन्नत हुआ है। पिछले चार दशकों का हिंदी साहित्य वाजपेयी जी के रचनाबद्ध काव्य-चिंतन और दिशा-संकेत से अन्यतम रूप से प्रभावित है।

—राजा गोकुलदास महल,
जबलपुर (म० प्र०)

सातवें दशक का हिन्दी कहानी विशेषांक

दिसम्बर १९६६

- सन् ६० के बाद हिन्दी के तरुण कहानीकारों की जो पीढ़ी उभरकर सामने आयी है, उसे प्रथम बार एक समुचित सुनियोजित मंच प्रदान करने का कार्य **अणिमा** का यह विशेषांक करेगा।

पच्चीस कथाकार

विजय चौहान, प्रबोध कुमार, दूधनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल, ज्ञानरंजन, प्रयाग शुक्ल, ममता कालिया, अवधनारायण सिंह, महेन्द्र भल्ला, मनहर चौहान, आलोक शर्मा, सुधा अरोड़ा, से० रा० यात्री, सुदर्शन चोपड़ा, विजयमोहन सिंह, अनीता औलक, इसराइल, नीलकान्त, गौरी शंकर कपूर, अतुल भारद्वाज, भीमसेन त्यागी और पानू खोलिया—इन पच्चीस कथाकारों की इस विशेषांक के लिए विशेष रूप से लिखी हुई कहानियाँ, जो इस पीढ़ी की कथा-शक्ति का परिचय देती हैं।

पाँच समीक्षक

उपेन्द्रनाथ अश्क, डॉ० नामवर सिंह, कमलेश्वर, श्रीकान्त वर्मा और राजकमल चौधरी द्वारा लिखे हुए ऐतिहासिक महत्त्व के पाँच लेख।

एक विचारोत्तेक परिचर्चा

जिसमें ये सभी संकलित कथाकार खुलकर 'अपनी बात' कहेंगे।

चित्र और आत्म-परिचय

सभी कथाकारों और कथा-लेखिकाओं के चित्र और उनका आत्म-परिचय।

- अणिमा का यह विशेषांक हिन्दी की नयी कथा-पीढ़ी का ऐतिहासिक 'घोषणा-पत्र' सावित होगा।

पृष्ठ-संख्या ४०० : मूल्य ३ रुपये

अणिमा-कार्यालय

४१ ए, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता - १ फोन : ३४-६४०४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य रजनीश

जीवन की अदृश्य जड़ें

किस संबंध में आपसे बातें करूँ ? जीवन के संबंध में ? शायद यही उचित होगा, क्योंकि जीवित होते हुए भी जीवन से हमारा संबंध नहीं है। यह तथ्य कितना विरोधाभासी है ? क्या जीवित होते हुए भी यह हो सकता है कि जीवन से हमारा संबंध न हो ? मित्र, यह हो सकता है। न केवल हो ही सकता है, बल्कि ऐसा ही है भी। जीवित होते हुए भी, जीवन भूला हुआ है। शायद हम जीने में इतने व्यस्त हैं कि जीवन का विस्मरण ही हो गया है।

वृक्षों को देखता हूँ तो विचार आता है कि क्या उन्हें अपनी जड़ों का पता होगा ? पर वृक्ष तो वृक्ष हैं, मनुष्य को ही अपनी जड़ों का पता नहीं। और जड़ों का ही पता न हो तो जीवन से संबंध कैसे होगा ? जीवन तो जड़ों में है—अदृश्य जड़ों में। दृश्य के प्राण अदृश्य में होते हैं। जो दिखायी पड़ता है, उसका जीवन-स्रोत उसमें होता है जो कि दिखायी नहीं पड़ता है। दृश्य को अदृश्य धारण किये हुए है। जब तक यह अनुभव न हो तब तक जीवित होते हुए भी जीवन से संबंध नहीं होता है।

जीवन से संबंधित होने के लिए जीवन मिल जाना ही पर्याप्त नहीं। वह भूमिका तो है, किंतु वही सब कुछ नहीं है। उसमें संभावनाएँ तो हैं लेकिन वही पूर्णता नहीं है। उससे यात्रा तो शुरू हो सकती है, लेकिन उस पर ही ठहरा नहीं जा सकता है। पर कितने ही लोग हैं जो कि प्रस्थान-बिंदु को ही गंतव्य मान कर रुक जाते हैं। शायद अधिकांशतः यही होता है। बहुत कम ही व्यक्ति हैं जो कि प्रस्थान-बिंदु में और पहुँचने की मंज़िल में भेद करते हों और उस भेद को जीते हों। कुछ लोग शायद भेद कर लेते हैं, पर उस भेद को जीते नहीं। उनका भेद मात्र बौद्धिक होता है और स्मरण रहे कि बौद्धिक समझ कोई समझ नहीं। समझ और गहरे से—जीवन के—अस्तित्व के अनुभव से आये तो ही परिणामकारी होती है। हृदय की गहराई से और अनुभव की तीव्रता से ही वह ज्ञान आता है जो कि व्यक्ति को बदलता है और नया करता है। बुद्धि तो उधार विचारों को ही अपना समझने की भ्रांति में पड़ जाती है। बुद्धि की संवेदना है ही बहुत सतही। जैसे सागर की सतह पर उठी लहरों का न तो कोई स्थायित्व होता है और न कोई दृढ़ता होती है। उनका बनना-मिटना चलता ही रहता है और सागर का अंतस्तल न तो उससे प्रभावित होता है और न ही परिवर्तित होता है। ऐसी ही स्थिति बुद्धि की भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धि से नहीं, अनुभव से—अस्तित्व से—स्वयं की सत्ता से यह बोध आना चाहिए कि जन्म और जीवन में भेद है। चलने और पहुँचने में अंतर है। जन्म प्रारंभ है, अंत नहीं। यह दृष्टि न जगे तो जन्म को ही जीवन मान लिया जाता है। फिर जो जन्म को ही जीवन जानता और मानता है, अनिवार्यतः उसे मृत्यु को ही अंत और पूर्णता भी माननी पड़ती है। जन्म को जीवन मानने की भूल से ही मृत्यु को स्वयं की परिसमाप्ति मानने की भ्रांति का भी जन्म होता है। वह पहली भूल की ही सहज निष्पत्ति है। वह उसका ही विकास और निष्कर्ष है। जन्म से जो बँधे हैं, वे मृत्यु से भी भयभीत होंगे ही। मृत्यु-भय जन्म से बँधे होने की ही दूरगामी प्रतिध्वनि है।

वस्तुतः, हम जिसे जीवन कहते है, वह जीवन कम और जीवित मृत्यु ही ज्यादा है। शरीर से ऊपर और शरीर से भिन्न जिसने स्वयं को नहीं जाना है, वह कहने मात्र को ही जीवित है। जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात जिसे स्वयं का होना अनुभव नहीं होता, वह जीवित नहीं है। उसे जन्म के बाद और मृत्य के पूर्व भी जीवन का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि जीवन का अनुभव तो अखंड और अविच्छिन्न है। ऐसे व्यक्ति ने जन्म को ही जीवन मान लिया है। सच तो यही है कि उसने अभी जन्म ही पाया है, जीवन नहीं। जन्म बाह्य घटना है, जीवन आंतरिक। जन्म संसार है, जीवन परमात्मा। जन्म जीवन तो नहीं है, लेकिन जीवन में गति का वह द्वार हो सकता है। लेकिन, साधारणतः तो वह मृत्यु का ही द्वार सिद्ध होता है। उस पर ही छोड़ देने से ऐसा होता है। साधना जन्म का ही दूसरा पहलू है। मृत्यु विकसित हुआ जन्म ही है। अचेतन और मूर्च्छित जीना मृत्यु में ले जायगा—सचेतन और अमूर्च्छित जीना जीवन में। अमूर्च्छित जीवन को ही मैं साधना कहता हूँ। साधना से जीवन उपलब्ध होता है। वही धर्म है।

मैं वूढ़ों को देखता हूँ और बच्चों को देखता हूँ तो मुझे जन्म की, मृत्यु की दृष्टि से तो उनमें भेद दिखायी पड़ता है, लेकिन जीवन की दृष्टि से नहीं। जीवन से सभी अछूते हैं। जीवन समय की गति के बाहर है। जन्म और मृत्यु समय में घटित होते हैं, जीवन समय के बाहर। उम्र का बढ़ता जाना समय में होता है; उसे ही जीवन-वृद्धि न समझ लेना। आयुष्य और जीवन भिन्न हैं। जीवन पाने को समय के बाहर चलना होगा। समय क्या है? परिवर्तन समय है। संसार में सर्व कुछ परिवर्तन है। वहाँ कुछ भी ठहरा हुआ नहीं है। देखो और खोजो तो पाओगे कि स्वयं के बाहर एक भी बिंदु, एक भी अणु थिर नहीं है। पर स्वयं में कुछ है जो कि परिवर्तन के बाहर है। स्वयं में समय नहीं है। स्व-सत्ता कालातीत है। इसी सत्ता में प्रवेश—इसी सत्ता में जागरण जीवन है।

जीवन को खोजो, अन्यथा मृत्यु आपको खोज रही है। वह प्रतिक्षण निकट आती जा रही है। जन्म के बाद प्रतिक्षण उसकी ही विजय का क्षण है। कुछ भी आप करो—केवल जीवन में प्रवेश छोड़ कर, उसकी विजय सुनिश्चित है। संपत्ति; शक्ति या यश—सभी उसके समक्ष निर्जीव छायाओं की भाँति हैं। उसकी मौजूदगी में वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। स्वयं की सत्ता—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्व-अस्तित्व की अनुभूति ही केवल अमृत है। वही और केवल वही मृत्यु के बाहर है, क्योंकि समय के बाहर है। समय में जो कुछ भी है, सभी मरणधर्मा है। समय मृत्यु की गति है। उसके ही चरणों का वह पाप है। समय में दौड़ना मृत्यु में दौड़ना है। और सभी वहीं दौड़े जाते हैं। मैं सभी को, अपने ही हाथों मृत्यु के मुंह में, दौड़ते हुए देखता हूँ। ठहरो और सोचो। आपके पैर आपको कहाँ लिये जा रहे हैं? आप उन्हें चला रहे हो या कि वे ही आपको चला रहे हैं?

प्रतिदिन ही कोई मृत्यु के मुंह में गिरता है और आप ऐसे खड़े रहते हैं कि जैसे यह दुर्भाग्य उस पर ही गिरने को था। आप दर्शक बने रहते हैं। यदि आपके पास सत्य को देखने की आँखें हों तो आपको उसकी मृत्यु में अपनी भी मृत्यु दिखायी पड़ती। वही आपके साथ भी होने को है। वस्तुतः हो ही रहा है। आप रोज-रोज मर ही रहे हैं। जिसे आपने जीवन समझ रखा है वह क्रमिक मृत्यु है। हम सब धीरे-धीरे मरते रहते हैं। मरण की यह प्रक्रिया इतनी धीमी है कि जब तक वह अपनी पूर्णता नहीं पा लेती है तब तक प्रगट ही नहीं होती। उसे देखने को विचार की सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। चर्मचक्षुओं से तो केवल दूसरों की मृत्यु का दर्शन होता है, किंतु विचार-चक्षु स्वयं की मृत्युघिरी और मृत्योन्मुख स्थिति को भी स्पष्ट कर देते हैं। स्वयं को इस संकट की स्थिति में घिरा जान कर ही जीवन को पाने की आकांक्षा का उद्भव होता है। जैसे कोई जाने कि वह जिस घर में बैठा है, उसमें आग लगी हुई है और फिर उस घर के बाहर भागे, वैसे ही स्वयं के गृह को मृत्यु की लपटों से घिरा जान हमारे भीतर भी जीवन को पाने की तीव्र और उत्कट अभीप्सा पैदा होती है। इस अभीप्सा से बड़ा और कोई सौभाग्य नहीं, क्योंकि वही जीवन के उत्तरोत्तर गहरे स्तरों में प्रवेश दिलाती है।

क्या आपके भीतर ऐसी कोई प्यास है? क्या आपके प्राण ज्ञात के ऊपर अज्ञात को पाने को आकुल हुए हैं? यदि नहीं तो समझें कि आपकी आँखें बंद हैं और आप अंधे बने हुए हैं। यह अंधापन मृत्यु के अतिरिक्त और कहीं नहीं ले जा सकता है। जीवन तक पहुँचने के लिए आँखें चाहिए। मित्र, समय रहते चेत जाना आवश्यक है। फिर पछताने से कुछ भी नहीं होता है। आँखें खोलें और देखें तो चारों ओर मृत्यु दिखायी पड़ेगी। समय में, संसार में मृत्यु ही है। लेकिन समय के, संसार के बाहर—स्वयं में अमृत भी है। इस तथाकथित जीवन को जो मृत्यु की भाँति जान लेता है, उसकी दृष्टि सहज ही स्वयं में छिपे अमृत की ओर उठने लगती है। और जो उस अमृत को पा लेता है, पी लेता है, जी लेता है, उसे फिर कहीं भी मृत्यु नहीं रह जाती है। फिर बाहर भी मृत्यु नहीं है। फिर मृत्यु भ्रम है; और जीवन सत्य है।

—जीवन-जागृति-केंद्र,
११५, नेपियर टाउन, जबलपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्योत्स्ना देवधर

कहानी

हम दोनों

मैं कहानी कहने जा रहा हूँ मराठी में, आप पढ़ लीजिए हिंदी में। भाषा का परिवेश कोई भी हो, कहानी है मनुष्य की, जो सब भाषाओं में एक सा ही होता है।

हाँ, कहानी है हम दोनों की। हम दोनों, याने मैं और मेरा भाई। मैं जब बित्ता भर था तब वह आया इस दुनिया में, मेरी पीठ से पीठ लगा कर। उसे जन्म दिया और माँ थक गयी। ऐसी चुप हो गयी, ऐसी खाट से चिपट गयी कि लगा, न तो वह कभी बोलेगी न ही कभी खाट से उतरेगी। और सचमुच एक दिन वह अपनी उसी अँधेरी खोली में पुरानी खाट में ही समा गयी। हम दोनों भाई बाहर आँगन में आम की गुठलियाँ चूसते रहे। हमें अपनी माँ के अंतर्धान होने की कहानी किसी ने नहीं सुनायी। यह कहानी कोई नयी थोड़े ही थी। हमारे कोंकण में हर दहलीज़ ने ऐसी कहानी सुनी है, देखी है। ग़रीबी में ज़िंदगी और मौत एक ही तराज़ू से तोले जाते हैं। रोमांच कहीं भी, कभी भी होता नहीं। ग़रीबी में जन्म संकट माना जाता है, मौत एक छुटकारा।

हाँ, कहना भूल गया। हम दोनों कोंकण के हैं। कोंकण—सह्याद्रि के पैरों तले वाली भूमि! सह्याद्रि—हम दक्षिण वालों का हिमालय; हमारे शिवा जी राजा की शौर्य-भूमि! कोंकण है ग़रीबों का देश; आम, सुपारी, नरियल, फणस, काजू देने वाला, और लेने वाला कुछ भी नहीं। नरियल, सुपारी छीलते-छीलते हाथों में छाले पड़ जाते हैं; आम खाते-खाते पेट बिगड़ जाता है; भात खा-खा कर पेट बड़ा हो जाता है। अंत में, समुद्र की खारी, गीली, दमे की हवा पी कर कुछ साल जी लेता है—ऐसा है हमारा कोंकण।

मेरा नाम है दामू और मेरे छोटे भाई का राव जी।

कोंकण के प्रत्येक गाँव में कम से कम आधा सैकड़ा दामू और राव जी आपको मिल जायेंगे। नामकरण करना आवश्यक था इसीलिए दो 'लेबिल' लगा दिये गये, नहीं तो वस्तुतः हम दोनों को नाम की आवश्यकता ही कहाँ थी! और दूसरे, नाम के बारे में चर्चा करने की हमारे माँ-बाप की आर्थिक और मानसिक परिस्थिति भी नहीं थी। शारीरिक मेल तो ग़रीबी में मात्र बिना खर्चे का, बिना परिश्रम का मनोरंजन है, समाधान है। मानसिक मेल की कोई खास आवश्यकता नहीं मानी जाती। बच्चे हो ही जाते हैं तो अपने आप पनप भी लेते हैं। भरपूर वर्षा होती है, छाया के लिए बड़े-बड़े पेड़ होते हैं, खेलने के लिए समुद्र का किनारा है। फिर कोई ख़ास चिंता नहीं रहती। अतः जो नाम अत्यंत प्रचलित हैं, वही रखे गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जितने चुपके से राव जी इस दुनिया में आया, उतने ही चुपके से माँ अपनी पुरानी, टूटी खाट में समा गयी, यह मैं बता ही चुका हूँ। पिता जी थे माळकरी। माळकरी, याने वारकरी। उन्होंने गले में तुलसी की माला पहन रखी थी। दिन भर विठ्ठल-विठ्ठल कहते रहते। महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम विठ्ठल-भक्त थे, मेरे पिता जी उन संतों के भक्त। अतः हर साल पंढरपुर जाते। वारकरी लोगों का यह व्रत ही होता है कि हर साल कम से कम एक बार पंढरपुर की यात्रा करें। पालकी के साथ यह जत्था पैदल चलता हुआ क़रीब आठ-दस दिन बाद पंढरपुर पहुँचता था। मेरे पिता जी भी हर साल इस मेले में सम्मिलित होते थे। ज्ञानदेव-तुकाराम!... जय हरि विट्ठल!... जय हरि विट्ठल!... विट्ठल... विट्ठल.. विट्ठल...! के जयजयकार से आकाश भी झुक-झुक जाता।

आधा गाँव उसमें शामिल होता, आधा रह जाता, अपने नित्य-कर्म में उलझ जाता। पंढरपुर से लौट आने वाले धूल-भरे पैरों पर गिर कर वे विठ्ठल के दर्शन का सुख मान लेते; अपने लिए पुण्य-संचय कर लेते। क़रीब सौ मील चल कर जाने वाले कभी-कभी वापस आते ही नहीं थे, विठ्ठल के चरणों में ही लीन हो जाते। ऐसे महात्मा स्त्री-पुरुष परमात्मा-अवस्था को पहुँच जाते और साल भर उनके नाम ले कर अज्ञात दिशा में हाथ जोड़े जाते।

ऐसे ही पुण्यवान लोगों में मेरे पिता जी भी थे। पंढरपुर की वारी करने गये तो वापस आये ही नहीं। गाँव वालों ने मेरे पिता जी को अज्ञात दिशा में उन्मुख हो नमस्कार किया। पास-पड़ोस वालों ने उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की; उनके वैराग्य की, उनकी निष्ठा की जी भर सराहना की। लिमलेट की गोली जितने स्वाद से चूसी जाती है उसी तरह गाँव वालों ने मेरे पिता के संत भावों की जुगाली की। मैं बड़ा था अतः मुझ पर पिता के संतत्व का भार सौंपना गाँव वाले भूले नहीं। लेकिन इस पैतृक संपत्ति का भार उठाने की शक्ति मुझमें नहीं थी।

उस समय मैं था बारह साल का और राव जी ग्यारह का।

सूनी झोपड़ी और खाली डिब्बों के साथ रह गये हम दोनों। पिता की चार अंगुल भर खेती-बाड़ी थी। जिन्हें कभी देखा तक नहीं था एसे संबंधियों के लिए वही काफ़ी थी। दोनों समय फ़ाक़े कोई कितने दिन करे, कम से कम एक समय तो मुट्ठी भर भात नसीब होना ही चाहिए। परिवार में संत-महंत होना बड़े भाग्य की बात होती है। शक्कर के दाने पर न जाने कहाँ से चींटियाँ भिड़ जाती हैं। लगता है, उस शक्कर के दाने से ही निकली हों। वही हुआ; भूमिगत संबंधी हमारी चंद्रमौलि झोपड़ी में इकट्ठा हो गये। दो-चार दिन हम दोनों भाइयों को भात के दो-चार ग्रास दे दिये लेकिन वे हमें खिलाने के लिए तो आये नहीं थे, अतः एक दिन मारुति (हनुमान) के मंदिर में चार बड़े-बूढ़ों ने मिल कर हम दोनों के विषय में काफ़ी चिंता व्यक्त की, जम कर चर्चा की। ढेर सी सहानुभूति व्यक्त की गयी और निर्णय लिया गया कि गाँव के इनामदार की हवेली में हम दोनों को जैसे-तैसे प्रवेश पा लेना चाहिए।

मुझसे कहा गया कि मैं इनामदार की हवेली में जाऊँ; अप्पा साहब इनामदार के चरणों पर गिर कर अपनी व्यथा तथा बाप की कथा सुनाऊँ।

मैंने सिर हिला दिया; हामी भर दी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे दिन सुबह हम दोनों चले इनामदार की हवेली की ओर। मैं आगे, मेरी फटी क़मीज़ का छोर पकड़े राव जी पीछे। उसके शरीर पर सिर्फ़ लँगोटी थी। दोनों के पैरों ने कभी जूतों को छुआ ही नहीं था। सिर के बाल बढ़ कर कान पर, गर्दन पर, कपाल पर लटक आये थे। रूखे बालों के शीर्ष पर लंबी चोटी बार-बार हिल कर त्रास दे रही थी। कम से कम मुझे इस चोटी से बचपन से ही घृणा थी; राव जी की बात मालूम नहीं।

इनामदार का बाड़ा (हवेली) काफ़ी बड़ा था। बाहर ड्योढ़ी पर दरवान था। उसने हमें रोका नहीं। शायद हमें मधुकरी माँगने वाले समझा होगा। हमारे महाराष्ट्र में कितने ही ग़रीब ब्राह्मण लड़के मधुकरी माँग कर अपना निर्वाह करते हैं, पढ़ते हैं, अपना जीवन सँवारते हैं। 'ओम् भवति भिक्षां देहि' की पुकार सुनते ही घर-घर से माताएँ याचक की झोली में कुछ न कुछ डाल ही देती हैं। और कुछ नहीं तो एक चतकोर भाकरी ही (ज्वार या बाजरे की रोटी का चौथा हिस्सा) दे लेती हैं।

हाँ, तो हम दोनों को बाड़े में प्रवेश मिल गया और आँगन पार कर हम बैठक तक पहुँच गये। अंदर से धूप-दीप की सुगंध आ रही थी। आँगन में सडा डाला गया था। सडा, याने गोबर और पानी मिला कर ज़मीन पर छिड़का जाता है। उस गीली ज़मीन पर रांगोली सुशोभित थी। ठाकुरद्वारे से आ रहे अभिषेक के मंत्र सुनने वाले को मंत्र मुग्ध कर रहे थे। सारा वातावरण बड़ा मंगलमय था, उत्फुल्ल था।

"कौन हो तुम ?" एक गंभीर किंतु सहानुभूतिपूर्ण स्वर की दिशा में मैंने मुड़ कर देखा।

बड़ी प्रसन्न मुद्रा थी उनकी। खुले वक्षस्थल पर धवल जनेऊ, माथे पर चंदन का तिलक, सिर पर बड़ी शान से लटकने वाली चोटी, सफ़ेद धोती, पैरों में खड़ाऊँ।

मैंने झुक कर माथा टेका; राव जी ने भी।

"चिरंजीव रहो, चिरंजीव रहो ! कौन हो तुम ? क्या चाहते हो ?" उन्होंने पूछा।

मैंने अपनी कथा सुनायी। ठीक से कह नहीं सका, रोना आ गया। क़मीज़ पकड़े राव जी भी रो पड़ा। बस इतना ही बार-बार कहता रहा कि हम दोनों दो दिनों से भूखे हैं।

"अरे, अरे ! आओ, अंदर आओ।" इनामादार हमें अंतर्गृह में ले गये।

"आनंदी, आनंदी ! अपनी माँ से कहो, इन दोनों को खिला-पिला दे। आज से ये बच्चे यहीं रहेंगे।"

क़रीब दस साल की छोटी सी, गौर वर्ण, काले बालों तथा नीली आँखों वाली एक सुंदर लड़की अंदर से दौड़ती हुई आयी और क्षण भर अपलक हमारी ओर देखती रही। दूसरे ही क्षण वह आगे बढ़ी और राव जी का हाथ पकड़ कर बोली, "चलो !"

"हम ब्राह्मण नहीं हैं।" मैं धीरे से बोला। सह्याद्रि-से शरीर और हिमालय-से मन वाला वह पुरुष हँस पड़ा। उनकी हँसी हवेली भर में गूंज उठी। उसमें था ममत्व और अनुभवों का गांभीर्य।

"बेटे, हर बच्चा ब्राह्मण ही होता है। तुम चिंता न करो, जाओ खा-पी लो।"

बैठने के लिए लाल रंग के पाट थे। पाट के चारों कोनों पर पीतल के फूल कील से ठोंके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए थे। सामने थी केले की पत्तल। उस पर थी गेहूँ की रोटी, कटोरी में दूध और साथ में लोणचं (अचार)।

हाथ-पैर धो कर हम दोनों पत्तल पर टूट पड़े। काफ़ी देर बाद गर्दन उठा कर देखा, गृहस्वामिनी आँखें पोंछ रही थीं और आनंदी की आँखों में कुतूहल भरा था।

तृप्त हो कर हम दोनों उठे तो आनंदी हमें अपने कमरे में ले गयी। तरह-तरह के खिलौनों से उसका कमरा भरा पड़ा था। राव जी प्रसन्न हो कर हँस पड़ा। उसकी यह हँसी मैं पहली ही बार देख रहा था।

"ए, तुम दोनों इतना ढेर सा कैसे खा लेते हो ?" आनंदी ने पूछा। बड़ा कुतूहलभरा प्रश्न था उसका।

"आनंदी, हम दोनों ने गेहूँ की रोटी आज पहली बार चखी और पिछले दो दिनों से हम भूखे थे।"

"हाय राम, कुछ भी खाये बिना दो दिन कैसे रह सके ?" आनंदी कल्पना मात्र से घबरा उठी थी।

उस दिन से हम दोनों उस घर के अभिन्न अंग बन गये। आनंदी अकेली थी; हम दोनों मिल कर उस हवेली में तीन बच्चे हो गये।

मैं हाथ-लगा काम कर लेता। राव जी आनंदी के साथ रहता; उसके साथ खेलता, घूमता और पढ़ता भी।

गृहस्वामी और स्वामिनी के प्यार-भरे छत्र के नीचे हमारा दारिद्र्य धुल गया। हमारे मन और शरीर की सारी लघु सीमाएँ टूट गयीं। उत्तम संस्कारों की अमूल्य देन उस हवेली ने हमें दी।

उस हवेली के प्रसन्न और खुले वातावरण में हम दोनों भाई खजूर के पेड़ से बढ़ते गये। और आनंदी ! वह अपनी यौवन-सीमा पर खड़ी थी—केले के पेड़ सी, शांत, स्निग्ध, पवित्र; पूजाघर में धूप-दीप-फूल-पत्तियों से सजे थाल सी।

राव जी पढ़ाई में खूब तेज़ था। आनंदी से पीछे शुरू कर के उससे आगे निकल गया। अप्पा साहब उसकी बुद्धि की सराहना करते थकते नहीं थे। स्कूल में, कॉलेज में वह बराबर प्रथम रहा। परीक्षा-फल घोषित होने के दिन वह खुशी-खुशी आ कर माँ के चरणों में लोट जाता। गृहलक्ष्मी—हमारी माँ—नोन-मिर्च ले कर राव जी की नज़र उतारतीं। दरवाज़े की ओट खड़ी आनंदी अपनी नीली आँखों से उसकी आरती उतारती और मैं अज्ञात दिशा में उन्मुख हो हाथ जोड़ लेता।

राव जी खूब पढ़ता गया। उसके लिए आये दिन नयी-नयी पुस्तकें आती रहतीं—अंग्रेज़ी की, मराठी की . . .ढेर सी पुस्तकें।

पढ़ाई में मेरी गति नहीं के बराबर थी। एक तो पढ़ने-लिखने में मेरी रुचि कम थी, दूसरे, खास बात यह थी कि मैं अपनी स्थिति और अपने उत्तरदायित्व को भूल नहीं पा रहा था। घर के मालिक, मालकिन तथा आनंदी का प्रत्येक छोटा-बड़ा काम करने में मुझे बड़ा सुख मिलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। मालकिन की छत्र-छाया मैं क्षण भर को भी नहीं छोड़ता था। अँधेरी कोठरी में, टूटी खाट पर अंतर्धान हुई मेरी माँ ही यहाँ आयी थी—नये रूप में। माँ का प्यार बचपन में नहीं मिला; अब मिल रहा था।

राव जी की माटी मुझसे भिन्न प्रकार की थी। वह जो लाड़, दुलार, स्नेह और आदर पा रहा था, उसे अपना अधिकार मानता था। संकोच का भाव उसके मन में जरा भी नहीं था। अच्छे-अच्छे कपड़े बेखटके पहन लेता, सुस्वादु भोजन बिना किसी झिझक के खा लेता। ऐसा लगता था जैसे यहीं जन्मा था, मैं ही था अकेला बाहर से आया हुआ।

आनंदी और राव जी की खूब पटती थी। मैं माता जी के पीछे-पीछे रहता, सदा इस बात के लिए तत्पर कि वे कोई आज्ञा करें और मैं उसे पूरा करूँ।

हवेली में दान-धर्म खूब होता था। आये दिन कथा-कीर्तन होते, पूजा-पाठ होता, सत्य-नारायण की कथा होती और अभिषेक का पात्र शंकर की पिंडी पर नित्य बरसता रहता। माँ रोज़ शाम राम-मंदिर में जातीं और हरिकथा सुनतीं। मैं उनके साथ छाया सा लगा रहता। उनके जूते गोदी में लिये मंदिर की सीढ़ियों पर बैठा हरि-नाम श्रवण करता रहता।

मैंने पुस्तकी विद्या क़रीब नहीं के बराबर पायी, लेकिन रामायण, महाभारत, हरिविजय, भक्तिविजय, शिवलीलामृत, शनिमाहात्म्य आदि धार्मिक ग्रंथ ध्यान से पढ़े। देवी-देवताओं की कथाएँ मुखोद्गत हुईं। माँ मेरी भक्ति देख कर गद्गद् हो उठतीं।

हवेली में बरसों से पूजा-पाठ, दान-धर्म होता रहा लेकिन भगवान प्रसन्न नहीं हुए। देवता तुल्य उन पति-पत्नी के कोई लड़का नहीं हुआ। परिणामस्वरूप उन दोनों में किसी प्रकार की कटुता नहीं आयी। निराशा अवश्य आयी लेकिन निराशा ने मानवता को खा नहीं डाला।

हम दोनों के पुत्रवत लाड़ होते रहे। लेकिन राव जी और मुझमें अंतर पड़ता गया। मेरे अनेक प्रयत्नों के बावजूद वह दरार बढ़ती ही गयी। मैंने अपनी सादी पोशाक छोड़ी नहीं थी; धोती, क़मीज़—यही मेरा पहनावा रहा। लेकिन राव जी को सूट-बूट बिना चैन नहीं पड़ता था। तरुण राव जी अपनी अंग्रेज़ी पोशाक में रोबदार लगता था। बाल बड़े ढंग से काढ़े रहते; जेब में सुंदर क़लम; रुमाल पर सेंट; पैरों में बूट। और फिर कोट की जेब में सिगरेट भी आ गयी थी। डाक्टरी पढ़ रहा था वह। अपनी धुन का पक्का था। उसकी तेज़ बुद्धि देख बड़े डाक्टर उसे परदेश भिजवाने की सोच रहे थे। राव जी की उन्नति पर मुझे हमेशा गर्व रहा, लेकिन उसे मेरी सादगी से हमेशा परहेज़। चाहता था कि उसके दोस्तों के सामने मैं न आऊँ; उसके बड़े भाई के रूप में न जाना जाऊँ। ठीक है, इसमें मुझे आपत्ति नहीं। दुख है केवल उसके व्यवहार पर। उसके स्वभाव में अहंमन्यता बढ़ती जा रही है; गर्व बढ़ता जा रहा है। मिज़ाज तेज़ होता जा रहा है। नखरों का अंत नहीं रहा।

"राव जी, भइया इन देवता-तुल्य लोगों के चरणों में हम भाग्यवश ही आ टिके हैं। उनकी सरलता का अनुचित लाभ उठाना अच्छा नहीं।" एक दिन मैंने राव जी से कहा।

"क्या मतलब ?" उसने पूछा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मतलब यही कि अपनी औक़ात समझो, अपना भूतकाल याद करो। तुम सुंदर हो, बुद्धिमान हो। सादगी और विनय से रहोगे तो तुम्हारा तेज बढ़ेगा, घटेगा नहीं।"

"दादा, तुम मुझसे जलते हो।" वह चिढ़े स्वर में बोला।

"नहीं मेरे भइया, नहीं! तुम्हें देख कर मेरी छाती फूली नहीं समाती। बस, इतनी ही प्रार्थना है कि इस घर के मालिक-मालकिन का स्नेह हमें इसी प्रकार मिलता रहे। उनका आदर्श सामने रखो। उनकी सादगी, उनकी नम्रता, उनके मन की विशालता प्रसाद के रूप में न पा सको तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ है; तुम्हारी विद्या झूठी है।"

"उनके पास भरपूर पैसा है। खर्च ही कर दिया तो इसमें इतना घिघियाने की कौन सी बात है!" राव जी कह उठा।

सुना और मेरा चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। दुख से आँखें भर आयीं। लगा, मार-मार कर अपने इस छोटे भाई की हड्डी-पसली एक कर दूँ, "याद रखना राव जी! इस घर के किसी भी व्यक्ति को ज़रा सा भी भला-बुरा कहा, उन्हें थोड़ा सा भी त्रास दिया तो तुम्हारा यह भाई गले में फाँसी लगा कर मर जायगा।"

मेरी इस प्रतिज्ञा पर राव जी बड़े नाटकीय ढंग से मुस्कराया और सिगरेट का कश खींचता हुआ मेरे सामने से चलता बना।

राव जी के सुधरने का एक झीना सा तार मेरे मन में टिका था, वह भी टूट गया। आये दिन रोगियों की चीखें, उनकी कराह, उनके विकृत ज़ख्मों को देखते-सुनते शायद उसके मन में किसी के दर्द के प्रति व्याकुलता शेष ही नहीं रही। जीवित व्यक्तियों की, मुर्दों की चीरफाड़ वह आये दिन करता रहता था, शायद इसीलिए उसे किसी जीवित व्यक्ति के फाँसी पर लटकने की बात ने धक्का नहीं पहुँचाया। भगवान! क्या मेरा राव जी नैसर्गिक, मानवीय भावनाओं को एकदम खो बैठा है?

लेकिन नहीं, जीवन की एक बड़ी ही मधुर, एक बड़ी ही कोमल भावना उसके मन में तीव्रता से बढ़ती जा रही थी, जिसका जल्दी ही अनुभव हुआ। अनुभव क्या था, कहानी का अंत था।

कह दूँ वह भी क़िस्सा!

उन दिनों माँ अपनी तरुण, सुंदर लड़की के लिए सुयोग्य वर खोजने में व्यस्त थीं। पिता जी मुझे इधर भेजते, उधर भेजते; इस गाँव, उस गाँव जाने की आज्ञा देते; खुद कहीं जाते तो मुझे अपने साथ लेते जाते। बार-बार कहते, "दामू, आनंदी के विवाह के काम में मुझे तुम्हारा बड़ा सहारा है। काफ़ी मेहनत करनी होगी। इकलौती बेटी है। धूमधाम से विवाह करना होगा। तुम्हारी सहायता के बिना इतना बड़ा कार्य निभेगा नहीं।"

उनके विश्वासभरे शब्दों से मैं कृतकृत्य हो उठता। उनके पैरों की धूलि माथे पर चढ़ा कर कहता, "पिता जी, मेरे प्राण आपके चरणों पर अर्पित हैं। कर्तव्य में ज़रा भी चूक नहीं होगी, पिता जी!"

वे स्नेह से मुझे छाती से लगा लेते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर माँ ने मेरे लिए एक अच्छी सी वधू ढूँढ़ ली। उनकी इच्छा थी कि आनंदी की शादी के बाद उसी मंडप में मेरा विवाह भी संपन्न करा दिया जाय।

आनंदी के लिए बड़ा अच्छा वर मिल गया। घराना अच्छा और संपन्न था; लड़का पढ़ा-लिखा, सुंदर और सुशील। आनंदी ने उसे देखा; उसने रूप-सुंदरी आनंदी को। दोनों ने एक-दूसरे को पसंद किया। माँ जी तथा पिता जी ने सुख की साँस ली।

"दामू बेटा, यह लड़की आयी है अपने मामा के साथ। देख ले उसे एक बार। पसंद हो तो हाँ कर दे। उसके लिए भी गहने बनवाने होंगे, कपड़े खरीदने होंगे।" माँ कह रही थीं।

"नहीं माँ, तुम देख लो; पिता जी पसंद कर लें। मुझे आज्ञा करें, मेरी राय न माँगें।"

"बेटे, अगर तू ही उसे पसंद न आया तो ?" पिता जी ने हँसते हुए कहा।

"हाय, कैसी बातें कर रहे हैं आप ! दामू जैसा सुशील, सुंदर और स्वस्थ तो आपका जमाई भी न होगा।" माँ ने कहा।

मैं संकोचवश चुप रहा। पृष्ठभूमि में आनंदी की निर्मल हँसी सुन कर मन का सारा बोझ उतर गया।

इन दोनों ही शुभ वार्ताओं से राव जी अनभिज्ञ था। वह अपने मित्रों के साथ बंबई गया हुआ था।

विवाह की तैयारियाँ धूमधाम से हो रही थीं कि राव जी आनंदी की शादी के आठ दिन पहले आ पहुँचा।

गाँव पहुँचते-पहुँचते उसे होने वाले शुभ कार्यों की सूचना मिल चुकी थी।

राव जी ने हवेली में चीखते-चिल्लाते क़दम रखा, "आनंदी . . . आनंदी ! . . ."

सब एकाएक घबरा गये। आनंदी सिर से पैर तक काँप उठी। नौकर-चाकर, गाँव वाले इकट्ठा हो गये।

जो बात मेरे मन में भूल कर भी कभी नहीं आयी थी, उस क्षण न जाने कैसे आ गयी। मैं आगे बढ़ा और उसके गाल पर कस कर एक थप्पड़ जमाते हुए चिल्ला उठा, "राव जी, होश खो कर आये हो क्या ? अपनी बहन को इस प्रकार बुलाया जाता है ?"

राव जी क्रोध से काँप उठा। वह कुछ कहने ही जा रहा था कि मैं उसे खींचते हुए अंदर ले गया। उसने मुझसे काफ़ी हाथापाई की लेकिन मैं उससे अधिक बलवान था। काफ़ी छीना-झपटी के बाद मैंने उसे ऊपर वाले कमरे में बंद कर दिया और साँकल चढ़ा कर ताला लगा दिया और फिर दुख से बेसुध हो कर गिर पड़ा वहीं, कमरे के बाहर।

कुछ देर बाद होश में आया तो माँ की गोद में मेरा सिर था और आनंदी पंखा झल रही थी।

"भइया, आज तुमने अपनी बहन की लाज बचा ली।" आनंदी ने रोते हुए कहा।

मैं झट उठ बैठा और माँ के चरणों पर गिड़गिड़ा कर गिर पड़ा, "माँ क्षमा कर दो, मेरे छोटे भाई को क्षमा कर दो, मेरी माँ !"

पिता जी ने स्नेहभरा, आश्वासनभरा हाथ मेरी पीठ पर रखा तब कहीं जा कर मैं शांत हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राव जी की याद आयी तो मैं बेचैन हो उठा। समझ नहीं पा रहा था कि क्या करूँ।

"दामू भइया, चलो राव जी के पास चलो।" आनंदी कह रही थी।

मैं चकित था। सोचा था कि अब इस घर में राव जी के लिए जगह नहीं है। आनंदी को रोकते हुए बोला, "ना बहन, तुम न आओ!, उसने तुम्हारा काफ़ी अपमान किया है। अब और नहीं। मैं अकेले ही जाऊँगा।" और आनंदी बहन के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना मैं ऊपर गया। ताला खोल कर काँपते हाथों से दरवाज़ा खोला तो अंदर का दृश्य देख कर विस्मय से आँखें फटी रह गयीं। सहसा उनकी ज्योति सदा के लिए लुप्त हो गयी।

गले में फाँसी लगाने की धमकी मैंने दी थी अपने छोटे भाई को। राव जी उस समय नाटकीय ढंग से मुस्कराया था। आज वही—मेरा छोटा भाई, मेरा राव जी—गले में फाँसी लगा चुका था।

क़रीब पंद्रह साल पहले हम दोनों इस हवेली में आये थे और आज मैं एकदम अकेला रह गया हूँ।

हाँ, अकेला! क्योंकि अंधे की शादी नहीं होती।

—८५०।२, 'शीतल',
शिवाजी नगर पूना-४।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवतित

ज्ञानपीठ पत्रिका

लेखन-प्रकाशन की अधुनातन दिशा-प्रवृत्ति
और उपलब्धि-परिचायिनी
मासिकी

'ज्ञानपीठ पत्रिका' हिंदी में अपने प्रकार का प्रथम प्रयास है, और कदाचित अन्य भारतीय भाषाओं को देखते हुए भी; जिसका प्रयत्न एक ऐसा अध्ययन प्रस्तुत करने का है जो लेखक-प्रकाशक-विक्रेता-पाठक चारों के 'अक्षर-जगत' की गतिविधि, नयी प्रवृत्तियों, समस्याओं एवं समाधान और विकास-उन्नति की दिशा-भूमिका का सम्यक परिचय दे तथा परस्पर विचारों के आदान-प्रदान का पथ प्रशस्त कर सके।

संपादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन : : जगदीश

मूल्य वार्षिक ६.०० : ००.५५ पैसे प्रति

संपादकीय कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ, ९ अलीपुर पार्क प्लेस
कलकत्ता-२७

वितरण कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी-५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमशंकर

यात्रा-संस्मरण

लखनऊ से कालिंपोंग तक

जब लखनऊ पहुँच कर वहाँ से असम के लिए प्रस्थान किया था तभी निश्चित कर लिया था कि मार्ग में दो-चार स्थान अवश्य देखूँगा। तो सबसे पहला पड़ाव सिलीगुड़ी का था। उत्तर प्रदेश से बिहार पार करते हुए धरती परिचित लग रही थी। रेल की पटरी के पास बसे हुए गाँव नयी करवट लेने की चेष्टा कर रहे हैं। कहीं-कहीं इन ग्रामों के निकट से जल-विद्युत-योजना के खंभे भी गुज़रते दिखायी दिये। नये भवन बन रहे हैं; निर्माण हो रहा है। इन तैरते हुए दृश्यों को देख कर प्रसन्नता हुई, पर मेरा भावुक मन सोचने लगा कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि विशाल भवन बन जाय और उसके भीतर प्रतिमा की प्रतिष्ठा ही न हो ! तब उसे मंदिर कौन कहेगा ? देश की शक्ति विशाल भवन नहीं होते, उसकी निष्ठाएँ, संकल्प, विश्वास, प्रवहमान चेतना—इनकी अधिक अपेक्षा होती है।

सोनपुर जंक्शन पर पहुँचते ही मुझे स्मरण हो आया कि मैं संभवतः संसार के सबसे बड़े प्लेटफ़ार्म पर आ गया हूँ। दूर-दूर तक प्लेटफ़ार्म का विस्तार। जैसे मैं नदी की धार के पास खड़ा हूँ और जब दो-ढाई घंटे बाद ट्रेन बटौनी पहुँची तब रूसी सहायता से निर्मित होने वाले नये तेल-शोधक कारखाने को दूर से ही देख कर प्रसन्नता हुई। भावी भारत का निर्माण हो रहा है। अभी नींव रखी जा रही है। पर जनता प्रतीक्षा नहीं कर सकती। वह तो शीघ्र से शीघ्र मंदिर का कलश देखना चाहती है। पर क्या प्रत्येक प्रजातंत्र में इतने ही विलंब से प्रगति होती है और अधिनायक-तंत्र शीघ्रता से आगे बढ़ जाते हैं ? भारत इस दृष्टि से प्रजातंत्र की परीक्षा-भूमि है—एशिया के सबसे बड़े प्रजातंत्र पर दूसरे के लिए दृष्टांत उपस्थित करने का गहन दायित्व है। देश ने प्रगति की है, पर अभी तो हमें बहुत दूर जाना है. . . ।

जब ट्रेन कटिहार और सिलीगुड़ी के बीच चली जा रही थी तब समयसारिणी पर मैंने दृष्टि डाली। हम कितनी पतली रेखा से गुज़र रहे हैं। यदि उत्तरी दिशा से भयंकर भेड़िया सिक्किम की राह से आगे बढ़ना चाहे और पाक़िस्तान इस षड्यंत्र का साझीदार बन जाय तो उसे केवल ३४-३५ मील की धरती तय करनी होगी, और असम, भूटान, सिक्किम, त्रिपुरा, मनीपुर, नेफा सबका संबंध देश से विच्छिन्न हो जायगा। कितनी महत्वपूर्ण है यह मानचित्र पर बनी हुई पतली सी रेखा, जो असम को शेष देश से जोड़ती है। यह देश की रक्तशिरा है. . . ।

उत्तर प्रदेश, बिहार होते हुए जब रात सिलीगुड़ी पहुँचा तब मैं बंगाल में था। मुझे यहीं अपनी यात्रा खंडित करनी थी। स्टेशन पर बिहारी, बंगाली, असमी और यहाँ तक कि पूर्वी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर प्रदेश के व्यक्तियों का सम्मिलित स्वरूप देख रहा था। उनकी भाषाएँ एक दूसरे से टकरा रही थीं और उन्हीं से मैं प्रांतों की विभिन्नता पहचान सका था। रात किसी प्रकार विश्रामालय में मच्छड़ों और खटमलों के साथ काट कर प्रातः जल्दी ही तैयार हो गया। अभी सूर्य की किरणें पृथ्वी पर उतर भी न पायी थीं कि मैं टैक्सी की खोज में बाहर आया। सामने ही दृष्टि पड़ी—'विश्राम शिविर—सैनिक भाइयों के लिए'। और तभी मेरे सामने चीन का बर्बर आक्रमण घूम गया, जब इधर का समस्त सीमांत सहसा आंदोलित हो उठा था। दिसंबर के अंतिम दिन थे, इसलिए पर्यटकों की संख्या नगण्य थी। थोड़ी देर में एक जर्मन परिवार के साथ ४९ मील दूर दार्जिलिंग के लिए चल पड़ा। बातचीत के सिलसिले में ज्ञात हुआ कि जब राउरकेला में उनकी नियुक्ति हुई तब उन्हें कुछ दिन जर्मनी में ही अंग्रेज़ी और हिंदी सीखनी पड़ी। भारत में रह कर उनका हिंदी शब्द-भांडार बढ़ गया है। रूस जैसा अनेकभाषी देश अपनी ही एक भाषा को संपर्क भाषा बनाता है, और हम अभी अपना विदेशी भाषा-मोह ढोये जा रहे हैं।

पहाड़ियों पर सर्पिल गति से जाती हुई वर्तुलाकार सड़क पर आगे बढ़ने की भी एक विचित्र सी अनुभूति होती है। लगता है हम आकाश की ओर भागे जा रहे हैं। हमने टैक्सी वाले से ज़रा शीघ्रता करने को कहा क्योंकि हम सूर्योदय देखना चाहते थे। चालक ने बताया कि इसके लिए तो रात दार्जिलिंग में ही बितानी पड़ती है। तब मैंने सोचा, तो फिर मैं सिलीगुड़ी से दार्जिलिंग तक की छोटी सी रेलगाड़ी में बैठ कर बालकों का सा आनंद लेता। सिलीगुड़ी रेलवे स्टशन से दार्जिलिंग लगभग ८० किलोमीटर है। पर ट्रेन लगभग सुबह सात बजे चल कर दोपहर डेढ़ बजे पहुँचती है। इतने छोटे रास्ते के बीच लगभग बाईस छोटे-छोटे स्टेशन हैं—अर्थात हर तीन-चार किलोमीटर पर एक स्टेशन। जब हमारी टैक्सी चली जा रही थी तब कई स्थलों पर रेल की पटरी और सड़क एक दूसरे को काटती हुई मिलीं। ट्रेन चक्कर लगाते हुए कभी ऊपर, कभी नीचे चली जा रही थी—छोटे-छोटे नीले रंग के डिब्बे, जैसे लखनऊ से काठगोदाम जाते हुए मिलते हैं। रास्ते में सिलीगुड़ी से ५६ किलोमीटर दूर कुर्सियांग नाम का रेलवे स्टेशन मिला, समुद्रतल से ४८६४ फ़ीट ऊपर। हमारे नेपाली चालक ने टैक्सी रोक दी। हमने बाहर उतर कर देखा, रेल की पटरी के दोनों ओर पंद्रह-बीस फ़ीट दूर पर ही दूकानें थीं। सर्दी कुछ बढ़ गयी थी इसलिए हमने अपने को ऊनी कपड़ों से और ढँक लिया। लोग पटरियों से निर्भय गुज़र रहे थे। छोटी गाड़ी है, यह अत्याचार नहीं कर पायगी, दुर्घटनाएँ नहीं होंगी। बचपन में लखनऊ से बरेली जाने वाली छोटी लाइन की गाड़ी के विषय में सुना था कि वह इतनी धीरे चलती है कि उतर कर फिर उसे पकड़ लो। आज भी छोटी लाइन अपनी बड़ी बहन से प्रतियोगिता, प्रतिद्वंद्वितः नहीं कर सकती, पर दार्जिलिंग की पूर्वोत्तर सीमा ट्रेन को तो शायद राममूर्ति यों ही रोक सकते थे। मैंने देखा, छोटे-छोटे बच्चे हँस-हँस कर तालियाँ बजा कर इस खिलौने जैसी ट्रेन का स्वागत कर रहे थे।

और जब हम दार्जिलिंग पहुँच गये तब दिसंबर के महीने में भी हल्की धूप हमारा स्वागत कर रही थी। हमने जर्मन सैलानियों से विदा ली क्योंकि उन्हें अपना आदेशपत्र राजकीय कार्यालय में दिखाना था। उन लोगों ने जब 'नमस्ते' कहते हुए हाथ जोड़े तब मुझे लगा, ये मेरे निकट आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गये हैं। हर पहाड़ी नगरी में एक केंद्रीय पथ होता है, जिसे हम 'स्नायु-केंद्र' कह सकते हैं। शिमला का 'द माल', नैनीताल के 'फ़्लैट्स', मंसूरी की 'लाइब्रेरी' रोड सभी पर शाम के समय जैसे पूरी नगरी आ कर उपस्थित हो जाती है। मैं दार्जिलिंग ऐसे समय आया था जब पर्यटकों की भीड़ नहीं थी, फिर भी एक पंक्ति में खड़ी हुई बहुतेरी टैक्सियाँ, आती-जाती सरकारी बसें; घूमते हुए नवयुवक केंद्रीय पथ की सूचना दे रहे थे। सड़क के किनारे की दूकानों पर कई जगह लगी हुई 'दामों में भारी कमी' की घोषणाएँ बता रही थीं कि 'सीज़न' के ये अंतिम दिन हैं।

भूख लग रही थी क्योंकि दार्जिलिंग जल्दी पहुँचने के उत्साह में सिलीगुड़ी में बस एक प्याला चाय ही ले पाया था। अपनी चाय के लिए प्रसिद्ध इस देश-खंड में जो पेय मिला वह कड़वा मालूम हुआ। पूछने पर पता चला कि यों भी यहाँ की ताज़ी चाय कड़ी होती है, तिस पर एक पोटली में बाँध कर उसे पानी में डाल देते हैं जिसमें वह उबलती रहती है। खाने में समय नष्ट होगा, यही सोच कर थैले में संतरे डाले और उन्हें खाता हुआ इधर-उधर भटकने लगा। पूर्व निश्चित कार्यक्रम से यात्रा करने की प्रणाली कभी-कभी इतनी यांत्रिक हो जाती है कि यात्रा का आनंद ही जाता रहता है। बाज़ार मोटर-अड्डे से बीस-तीस क़दम पर ही एक पगडंडी सी नीचे उतरती दिखायी दी, और पहाड़ों पर ये चरण इतना भटके हैं कि उन्होंने जान लिया कि नीचे कुछ न कुछ होगा ही। मन ने भी साथ दिया कि यदि ऊपर नहीं जा सकते तो क्या हुआ; ऊँचाई न सही, गहराई का ही आनंद लिया जाय। साफ़-सुथरा वन-उपवन का संगम जिसके प्रवेश-द्वार पर अंग्रेज़ी में लिखा था—'लिलाड बोटैनिकल गार्डन'। सोचा, विलायत के प्रसिद्ध 'लिलाड बैंक' परिवार से संबद्ध कोई सज्जन रहे होंगे। हिमालय की वनस्पति-राजि को मानव ने नियंत्रित कर के सजाया है; अलंकरण, सुव्यवस्था की प्रशंसा करनी होगी, पर मुझे सहसा याद हो आयी नैनीताल की वह अपरिचित पगडंडी जिससे मैं 'स्नो व्यू' गया था, और चीड़, देवदारु के असंख्य वृक्ष अपने आजानु बाहुओं से मानो मुझे आशीष दे रहे थे। अज्ञेय ने ऐसे ही दृश्यों के लिए कहा है:

> **पार्श्व गिरि का नम्र, चीड़ों में**
> **डगर चढ़ती उमंगों-सी**
> **बिछी पैरों में नदी, ज्यों दर्द की रेखा।**

हाँ, और नीचे उतर कर लता-गुल्मों से आच्छादित हरित कुंज देख कर मन प्रसन्न हो गया। पर मैं इस ममताभरी छाया में अधिक देर न रह सका, क्योंकि घड़ी की सुई तेज़ी से बढ़ रही थी। पहाड़ों पर मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि प्रायः आने-जाने की राह एक ही होती है। 'दुनिया गोल है' की बात वहाँ नहीं चलती। एक ओर से जा कर दूसरी ओर से लौटा जाय तो दो दृश्य देखने को मिलते हैं, पर मैं जिस राह से गया था, उसी से लौट पड़ने को विवश था।

बस-अड्डे से मैंने ऊपर चढ़ना आरंभ किया कि कुछ दूर तो हो ही आऊँगा। वे ही डबलरोटी, बिस्कुट, अंडा, मदिरा, फ़ोटोग्राफ़र, डेंटिस्ट की दूकानें। पहले इस सड़क का कुछ भी नाम रहा होगा, अब 'नेहरू रोड' कही जाती है। नैनीताल फ़्लैट्स की तरह एक खुला छोटा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सा मैदान है। इस समय भीड़ कम थी, पर अनुमान लगाया कि सीज़न की शाम यहाँ कितनी रंगीन होती होगी। इसी मैदान के एक कोने पर मेरी दृष्टि पड़ी श्री भानुआचार्य (संवत १८७१-१९२५) रामायण के रचयिता, नेपाली जातीय कवि की मूर्ति नेपाली साहित्य सम्मेलन ने स्थापित की है। हम हिंदी वाले अपने कितने साहित्यकारों की प्रतिमाएँ स्थापित कर सके हैं? कैमरे में प्रतिमा को बंदी करने की चेष्टा करते हुए मैंने सामने पर्वतमाला के दृश्यों पर अपनी दृष्टि दौड़ायी तो लगा दोनों विराटताओं को मैंने एक साथ पूजा है।

दार्जिलिंग में पीढ़ियों से नेपाली बसते आये हैं और जब मैंने रुड़की से इसी वर्ष इंजीनियरिंग पास करने वाले नवयुवक से बातचीत की तो उसने बताया कि उसे स्वयं पता नहीं कि कितनी पीढ़ियों पूर्व वे लोग भारत आये थे। वे कहने लगे कि मैं जब दर्पण में मुख देखता हूँ तभी नेपाली होने का बोध क्षण भर के लिए हो सकता है, नहीं तो भारतीय ही हूँ। इन्हीं से पूछने पर ज्ञात हुआ कि यहाँ की जनसंख्या में लगभग साठ प्रतिशत नेपाली हैं जो शताब्दियों से रहते आये हैं। बौद्धों के विहार, चैत्य तो नहीं देख पाया, पर स्थानीय भूटिया, लेप्चा चेहरों ने बहुत कुछ बता दिया। नामों के प्रति मेरी जो जिज्ञासा रहती है उसने याद किया कि यह शब्द तिब्बती है दोरजे तथा लिंग--अर्थात इंद्र के वज्र का स्थान। कहा जाता है कि वह वज्र ऑबज़र्वेटरी पहाड़ी पर गिर पड़ा था। पहले दार्जिलिंग सिक्किम का भाग था जिसे वहाँ के महाराज ने १८३५ में ईस्ट इंडिया कंपनी को दे दिया। उन्होंने सल्तनत बख्श दी थी...।

दार्जिलिंग में एवरेस्ट विजेता तेनसिंह से मिलने की इच्छा थी, पर ज्ञात हुआ कि इन दिनों वे बाहर गये हुए हैं। जब 'हिमालय पर्वतारोहण संस्थान' से वापस लौटा तो साँझ हो रही थी। यदि पर्यटन-काल होता तो इस समय मुख्य पथ जनसमूह से आच्छादित होता, फिरभी श्री भानुभक्त आचार्य की प्रतिमा के पास धीरे-धीरे लोग आ रहे थे। पार्वतीय नगरों की साँझ किसी विरले को ही घर से बंद कर के रखती है। यहीं से मैंने डूबते हुए सूर्य की अंतिम किरणें देखीं, जैसे घाटी के जलाशय में कमल धीरे-धीरे तिरोहित हो गया हो। रात होते ही पहाड़ियों पर मनुष्य अपने को कर्महीन अनुभव करने लगता है और शीत के कारण उसे घर की चहारदीवारी में बंद हो जाना पड़ता है। पर मेरे पास तो दार्जिलिंग के लिए बस एक दिन और एक रात के आठ पहर का ही समय था, इसलिए नौ बजे तक अपने होटल में खाना खा कर, मैं फिर बाहर निकल पड़ा। बड़ी दूकानें बंद थीं, पर छोटी-छोटी तो अभी भी खुली थीं। मदिरालयों में एक साथ प्रकाश और स्वर जाग्रत थे। उस एकांत वातावरण की ऐकांतिकता कम करने के लिए मैं कोई पंक्तियाँ गुनगुनाता जा रहा था कि पीछे से किसी अपरिचित ने आवाज़ दी। मैं कुछ सहमा और सोचने लगा कि इस अजाने प्रदेश में निर्जन में निकल कर मैंने भूल की, पर पहाड़ियों पर समस्त विषमताओं के बावजूद आज भी जो ईमानदारी है उसने मुझे आश्वस्त किया। व्यक्ति ने पास आ कर कहा—'साहब, आप कुछ खोज रहे हैं क्या?' मैंने बिना रुके उत्तर दिया नहीं तो। वह फिर बोला—'चाहिए, तो बताइए?' नहीं-नहीं कह कर मैं तेज़ी से चल कर सीधा अपने होटल पहुँचा और बिस्तर पर लेटे-लेटे सोचता रहा—किसी समय इन पहाड़ियों की छाया में ऋषि-मुनि चिंतन-मनन के लिए आते थे और आज क्षुधातुर प्राणी भी यहीं भटकते हैं...।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने सोचा कि यदि सुबह पाँच बजे उठ जाऊँ तो तैयार हो कर पैदल ही 'टाइगर हिल' पहुँच सकता हूँ पर जब सुबह उठा तो आकाश में मेघ घिरे हुए थे। यों दार्जिलिंग में दिसंबर-जनवरी में सबसे कम वर्षा होती है, पर प्रकृति अपने वश में तो नहीं है। मैंने बाहर निकल कर एक जीप वाले से बातचीत की तो उसने मुझे अधिक उत्साहित नहीं किया। कहने लगा, 'आप अकेले हैं, आपको तीस-पैंतीस रुपये पड़ जायँगे और ज़रूरी नहीं है कि सूर्योदय देख ही लें। यों चलना चाहें तो चलें, मैं एक घंटा वहाँ रुक सकता हूँ।' मैंने देखा, आकाश में मेघ और गहरे हो आये हैं—निराश हो गया। ऊपर चढ़ कर एक बार फिर कविश्रेष्ठ श्री भानुभक्त आचार्य की प्रतिमा के पास खड़ा हो कर प्राची दिशा की ओर देखने लगा, मानों सूर्य का मनुहार कर रहा हूँ। महाकवि निराला की 'प्रेयसी' की पंक्तियाँ याद आयीं :

सजल शिशिर-धौत पुष्प ज्यों प्रात में
देखता है एकटक किरण-कुमारी को—

पास में कहीं कमल जैसा पार्वतीय चंपा का प्रसून किरणप्रिया को बुला रहा होगा, पर वह मेघों के आवरण में बंदी आयी नहीं होगी . . .। बड़ी देर तक पूर्व दिशा को निहारता रहा, पर लगभग आठ बजे जब मेघ कुछ कम हुए और मैंने सूर्य की जो किरणें देखीं, वे क्वाँरी नहीं थीं। उनमें हलका सा ताप था, और मैं तो केवल प्रकाश पाना चाहता था। साढ़े आठ हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर जा कर कंचनजंगा के ऊपर से उदित होते हुए सूर्यदेव को नहीं देख पाया और सगरमाथा को भी शीश नहीं झुका पाया, पर कविश्रेष्ठ की प्रतिमा के पास खड़े हो कर इस प्रथम धाम के सूर्य को प्रणाम कर नीचे उतर पड़ा . . .।

दार्जिलिंग से मैं चाहता तो बस से भी कालिंपोंग जा सकता था, पर उस स्थिति में मुझे राष्ट्रीय पथ से जाना पड़ता। मैंने एक जीप ली और यह तय किया कि वह मुझे एक-दो स्थानों पर रोकती हुई ले चलेगी। मैं इस खोज में भी था कि कोई कालिंपोंग जाने वाला मिल जाय तो उसे भी साथ बिठा लूँ, रास्ते में उससे कुछ पूछता भी चलूँगा, पर कोई नहीं मिला और ऐसी स्थिति में मुझे अपने ड्राइवर से ही काम चलाना पड़ा। दार्जिलिंग से लगभग छह मील पर जा कर सड़क नीचे उतरना आरंभ हो जाती है। हम सात हज़ार फ़ीट की ऊँचाई से चले थे पर कालिंपोंग लगभग चार हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर ही है। जब हमारी जीप ने कच्ची-पक्की-मिश्रित छोटी राह पकड़ी तब एक ओर ऊपर की तरफ़ चाय के बगीचे दिखायी देने लगे और दूसरी तरफ़ घाटियाँ। यह चाय चुनने का समय न था, इसलिए इन बगीचों में चहल-पहल कम थी। दूर-दूर तक फैली हुई चाय की छोटी-छोटी झाड़ियाँ। जब इननें नयी-नयी कोंपलें लग जाती हैं तब उन्हें तोड़ लिया जाता है। मैं 'लेपचूटी इस्टेट' के पास थोड़ी देर तक रुक कर चाय की उन झाड़ियों को देखता रहा, जिन्होने न जाने कितनी विदेशी कंपनियों को समृद्ध कर दिया, पर बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति में सुधार नहीं हुआ।

छोटी सड़क चाय के बगीचों का चक्कर लगाती हुई दार्जिलिंग की सात हज़ार फ़ीट की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊँचाई से उतर कर एक हज़ार फ़ीट पर आ गयी थी और हम तीस्ता नदी के किनारे खड़े थे। नीचे बहुत गहराई में तीस्ता नदी बह रही थी और हमारी सड़क उससे काफ़ी ऊँचाई पर थी। इस नदी पर एक पुल बना है, जिससे कालिंपोंग की सड़क जाती है और यहीं से गंगटोक भी जाते हैं। इच्छा हुई कि भूटान की राजधानी देख आऊँ, पर मेरे पास समय कम था। जिस छोटी सड़क से मैं आ रहा था, वह पुल के पास बड़ी सड़क में मिल जाती है जो नदी के किनारे-किनारे सिलीगुड़ी चली जाती है। तीस्ता से गंगटोक लगभग उनतालीस मील है और सिलीगुड़ी बत्तीस। यहाँ जीप रुकी ही थी कि दो पुलिस वालों ने मुझे घेर लिया। मैंने उन्हें समझाया कि इस मास्टर के पास कुछ नहीं मिलेगा, पर उन्होंने होल्डॉल और अटैची खुलवा ही डाली, आखिर उन्हें भी तो प्रमाणित करना था कि वे कर्तव्य-पालन कर रहे हैं।

तीस्ता नदी के एक ओर दार्जिलिंग है, दूसरी ओर कालिंपोंग। यह नदी तिब्बती झील चालुमा में लगभग साढ़े सत्रह हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर जन्मी है जो दार्जिलिंग से ७५ मील दूर है। लोग कहते हैं कि नदी के दोनों छोरों पर जो स्थान है, वह चीनी आक्रमण का पथ बन सकता है। इस कल्पना से मैं सिहर उठता हूँ। अनायास मुझे लगता है कि नदी के जल में लालिमा प्रवेश कर गयी है। पाषाण-खंड जीवित हो उठे हैं। तीस्ता के पुल से कालिंपोंग केवल दस मील था, और हम ऊँचाई की ओर चढ़ते हुए वहाँ पहुँचे।

कालिंपोंग लगभग चार हज़ार एक सौ फ़ीट की ऊँचाई पर बसा है। एक समय यह भूटान का भाग था। यह छोटी सी पर्वत-नगरी देख कर मुझे कुमायूँ के रानीखेत, कौसानी, चौबटिया, मंसूरी के पास चकराता अथवा काश्मीर के पहलगाम, गुलमर्ग याद आ गये। मंसूरी, शिमला, नैनीताल, श्रीनगर, दार्जिलिंग में भीड़ इतनी अधिक होती है कि इंसान जनसमूह में खो जाता है, इसलिए मुझे छोटी-छोटी पार्वतीय नगरियाँ अधिक शांतिदायिनी लगती हैं। वहाँ की प्रकृति-शोभा भी मानवाक्रांत नहीं होती। कालिंपोंग में कोलाहल और आंदोलन नहीं हैं, इसलिए वह मुझे बहुत भाया। यहाँ पर कोई राजकीय सूचना-केंद्र न पा कर आश्चर्य हुआ और जब मैं आस-पास के लोगों से तरह-तरह की जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा तो कुछ ने तो मेरी वेश-भूषा तथा बातचीत से समझ लिया कि पर्यटक है, पर एक-दो ने यह भी संदेह किया कि जैसे गुप्तचर विभाग का हूँ और वे बिना पूरी बात सुने ही चले गये।

१९५९ के तिब्बत-विद्रोह में अनेक शरणार्थी यहाँ आ बसे थे। सिक्किम से वह केवल १६ मील दूर है और यह तिब्बत-सिक्किम के बीच मुख्य प्रवेश-द्वार है। यहीं से तिब्बती विद्रोह का संचालन हुआ था और नेहरू तक ने इसे 'गुप्तचरों का नीड़' कहा था। चीनियों ने इस विषय में अनेक बार विरोध-पत्र भी भेजे थे।

कालिंपोंग में मुझे तिब्बती, भूटानी अधिक संख्या में दिखायी दे रहे थे जब कि दार्जिलिंग में नेपाली अधिक थे। मैं निरुद्देश्य सा भटक रहा था कि मेरी दृष्टि लघु कुटीर उद्योग संस्थान पर गयी। वहाँ जा कर देखा, तिब्बती लोग अपनी कला का अभ्यास कर रहे थे। वहीं मालूम हुआ कि यहाँ बुधवार और शनिवार को 'हाट' लगती है जिसमें बहुत अच्छी वस्तुएँ मिल सकती हैं। पर केवल, कुछ खरीदने के लिए रुकना मेरे लिए कठिन था। लोग विदेश जाते हैं और वहाँ से घड़ी,

९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ट्रांज़िस्टर कलम जैसी चीज़ें ले आते हैं। पर क्या नयी भूमि से हमारी उपलब्धि यही है ? साँझ होने में अभी समय था और मुझे कालिंपोंग झपकियाँ लेते हुए द्वीप जैसा लग रहा था। इन छोटी पहाड़ी नगरियों में संध्या-काल तो और भी नीरवता छा जाती है। मुझे याद है कि पहलगाम में जब हम शरद्पूर्णिमा का आनंद लेने निकले थे, तो बिल्कुल अकेले थे। कालिंपोंग की मुख्य सड़क के पीछे एक मैदान पड़ा है, जहाँ मोटर यातायात का कार्यालय है। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि इन दिनों 'सीज़न' नहीं है, इसलिए बस शाम को नहीं जायगी। चेष्टा कर के जब एक जीप वाले को राज़ी कर पाया तो उसने शर्त रखी कि रास्ते में उसका घर पड़ता है, जहाँ वह आधा घंटा रुक कर रात का खाना ले लेगा, क्योंकि फिर सिलीगुड़ी से वह लौट नहीं पायगा। जब कालिंपोंग छोड़ रहा था, तब मैंने स्वयं से यही कहा कि इधर फिर कभी आना हुआ तो यही वह स्थान है, जहाँ शांत वातावरण में आत्मा का संगीत सुना जा सकता है; प्रकृति से तादात्म्य स्थापित हो सकता है; ज़िंदगी की थकान मिटायी जा सकती है।

कालिंपोंग से तीस्ता के पुल तक उसी रास्ते से लौटा और उन सिपाहियों को देख कर थोड़ा मुस्कराया, जिन्होंने आते हुए मेरी तलाशी ली थी। पुल पार कर के बायीं ओर की सड़क पकड़ी। तीस्ता से सिलीगुड़ी तक की यात्रा बड़ी प्रीतिकर थी। सड़क के दायीं ओर वनस्पति आच्छादित ऊँची पर्वतमालाएँ और बायीं तरफ़ नीचे गहराई में प्रवाहित पार्वतीय नदी तीस्ता। नदी के उस पार हरियालीभरे जंगल। रास्ते में कई जगह संतरों से भरे लंबे टोकरे ले जाते हुए श्रमिक दिखायी दिये। कालिंपोंग से सिलीगुड़ी तक की दूरी लगभग छियालीस मील है और हम लगभग आधी दूर आ गये, तो चालक ने एक स्थान पर जीप रोक दी। मैं समझ गया कि उसका गाँव पास ही होगा। इच्छा हुई कि उसके साथ चल कर गाँव ही देख लूँ, पर वह स्वयं ही बोला : 'सा'-ब, आप ज़रा गाड़ी देखते रहिएगा, मैं जल्दी आ जाऊँगा।' मैंने देखा, वह सड़क से नीचे उतर कर नदी के किनारे आ गया। वहाँ लकड़ी, बाँस आदि के सहारे एक छोटा सा पुल बना लिया गया था, जिसे वर्षा की नदी अवश्य बहा ले जाती होगी। इस पर से निकल कर चालक झुरमुटों में खो गया। मैं भी उसके चले जाने पर धीरे से नीचे उतर कर नदी के किनारे आ बैठा। पाषाण-खंडों से टकराती तीस्ता चली जा रही थी। जिस नर्मदा की धरती से मैंने अपनी यात्रा आरंभ की थी, वह भी कई स्थलों पर इसी प्रकार बहती है कि उसकी धारा में पाषाण-खंड दिखायी देते हैं। नदी के दोनों छोर साफ़-सुथरे पड़े थे, जहाँ मैं छोटे-छोटे पत्थर बीनता जाता था। यों उस नीरवता को नदी का कलकल स्वर भंग कर रहा था, पर बीच-बीच में मैं भी कविता की पंक्तियाँ गुनगुनाता जाता था। घाटी में अंधकार की पहली छाया उतरने लगी और मैंने अनुमान किया कि सूर्यास्त हो रहा है। यों भी घाटियों में दिन जल्दी डूब जाता है। इस बीच मैंने गोल-गोल पत्थर जमा कर लिये थे और तब तक चालक आ पहुँचा था। उसे मुझे यहाँ नीचे देख कर आश्चर्य हुआ। मैं सोच रहा था कि यह मुझे जीप की रक्षा का भार सौंप आया था और मैं यहाँ नीचे नदी की धारा के साथ बातचीत में खोया हुआ हूँ, वह नदी जो तिब्बत का संगीत गा रही है। प्रकृति भला भौगोलिक सीमाओं में कब बँध कर रही है !

तीस्ता से लगभग सिलीगुड़ी तक तीस्ता नदी इस प्रकार हमारी सड़क के साथ चलती रही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो यह पर्वतप्रिया अपने प्रिय का साथ नहीं छोड़ना चाहती। मुझे पुराणों की वह कथा याद हो आयी जहाँ सृष्टि का उदय युग्म के रूप में अंकित किया गया है। ब्रह्म 'स्वयंभू' भले कहलाये, पर उसे समस्त सृष्टि को स्वयं चालित करना ही पड़ा।

कुल प्रातः सिलीगुड़ी से चला था और जब रात फिर वहीं लौट आया तो लगा जैसे पंचकोसी की यात्रा पूरी कर आया हूँ।

—हिंदी विभाग, सागर विश्वविद्यालय,
सागर।

अवलोकन

१. अवलोकन में अपनी नव्यतम कविताएँ अविलम्ब भेजें।

२. घृणित अभिसंधियों से रक्षार्थ, एकाधिपत्य अथवा स्थानीय कक्षाधार की दूषण नीति को अस्वीकृत करने की अनिवार्यता में महत्त्वपूर्ण प्रयाण।

३. स्वीकृति-सूचना की प्राप्ति पर पाँच रुपये की सहयोगराशि पक्षांत तक अवश्य प्रेष्य।

मंत्रक : डॉ० शुकदेव सिंह : संपादक : शिवशंकर मिश्र

कार्यालय

बिहारबंधु प्रेस, मुजफ़्फ़रपुर (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहवर्ती साहित्य

मराठी

मदनमोहन शर्मा

श्री अनंत काणेकर और उनके एकांकी

मराठी-साहित्य में बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री काणेकर जी ने कविता, लघुकथा, लघु-निबंध, यात्रा-वर्णन, नाटक तथा एकांकियों के विविध पुष्प माँ भारती के मंदिर में चढ़ाये हैं। यहाँ उनके द्वारा लिखे हुए प्रकाशित कुछ एकांकियों को ध्यान में रख कर उनके एकांकी-लेखक के रूप की ही चर्चा करना हमारा अभिप्रेत है। इधर उनका 'सांवर आणि इतर एकांकिका' नामक एकांकी संग्रह मूलतः मराठी में ही पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ है, जिसमें उनके सन १९४१ से १९५८ ईस्वी के बीच लिखे हुए २५ एकांकी संग्रहीत हैं। प्रस्तुत संग्रह से पहले 'धूर व इतर एकांकिका' नाम से आपका एक संग्रह निकल चुका था, किंतु उसके लगभग सभी एकांकी तथा अन्य एकांकियों को मिला कर अब 'सांवर आणि इतर एकांकिका' प्रकाश में आया है ऐसा प्रतीत होता है।

एकांकी, साहित्य की एक ऐसी विधा है जिसमें जीवन की किसी विशिष्ट या उद्दीप्त घड़ी की एक सजीव झाँकी कम से कम समय में विशेष कला-कौशल के साथ उपस्थित की जाती है। एकांकी में एकरूपता, एक समस्या, एक पहलू या एक उद्दीप्त क्षण चित्रित होने के कारण मितव्ययिता और संक्षिप्तता का विशेष महत्व होता है। कथानक की दृष्टि में उसमें एकसूत्रता, एकता एवं एकाग्रता अनिवार्य होती है।

चूँकि एकांकी में लेखक को थोड़े में बहुत कुछ कह देना होता है अतः पहले वाक्य से ही ही पाठक की उत्कंठा जाग्रत कर के उसे अंत तक बनाये रख कर उस नियत अल्पकाल में ही चरम बिंदु तक क्षिप्र गति से ले जाने अथवा पहुँचाने का भार एकांकी-लेखक को वहन करना होता है। प्रेक्षक अथवा पाठक के मन पर बिल्कुल थोड़े ही समय में किसी व्यक्ति के जीवन की किसी विशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना का प्रभाव या छाप लगा कर विशिष्ट मानसिक अवस्था (मूड) निर्मित कर देना लेखक के लिए आवश्यक होता है, किंतु ऐसा करते समय उसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि उसके इस प्रयत्न से पाठकों अथवा दर्शकों के मस्तिष्क पर कहीं अनावश्यक तनाव तो नहीं पड़ रहा है। और कही हुई बात सहज रूप में पाठक के गले तो उतर रही है न !

काणेकर जी के प्रस्तुत संग्रह में कुल २५ एकांकी हैं जिनमें से कुछ उन्होंने मौलिक रूप से लिखे हैं। एकाध अनूदित हैं और शेष रूपांतरित हैं, किंतु इन सभी एकांकियों को पढ़ जाने पर काणेकर जी की एकांकी-लेखन की प्रतिभा स्पष्टतः अपनी एक विशिष्ट छाप पाठक के मन पर जमा देती है। इसी सैद्धांतिक विवेचन की पृष्ठभूमि में हम उक्त संग्रह के एकांकियों पर दृष्टि-क्षेप करेंगे।

प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित 'घर' एकांकी में त्रिंबकराव नामक एक मध्यवर्गीय लिपिक के जीवन की करुणापूर्ण घटना वर्णित है। तीन दिनों के बीच घटित घटनाएँ तीन दृश्यों में वर्णित की गयी हैं। प्रकाश और अंधकार की योजना से ही तीन दिन की इन घटनाओं को सहज रूप से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है अतः प्रकाश-योजना के पश्चिमी तंत्र के सहारे, बिना किसी विशेष कष्ट एवं समय के व्यवधान के घटनाओं को प्रदर्शित किये जा सकने का गुण इस एकांकी में है। अपने जीवन के नित्य-नैमित्तिक प्रपंच को चलाते हुए, रहने के लिए घर की व्यवस्था कर पाना एक मध्यवर्गीय परिवार के लिए कठिन होता है। किंतु अपना एक घर हो यह आशा आकांक्षा उसके लिए अस्वाभाविक नहीं। त्रिंबकराव के मन में भी एक घर की आकांक्षा सदैव आँखों के सामने घूमती रहती है। मृत्यु के मुख में पड़े रहने पर भी अपना एक घर बना लेने और उसमें अपने अंतिम दिन बिताने की कल्पना उसका पिंड नहीं छोड़ती। अपने कुटुंबियों की कई इच्छाओं को अधूरी ही रखकर, पेट काट कर जो पाँच-छह हज़ार की रक़म इकट्ठी की गयी है उससे बंबई में तो नहीं किंतु दूरस्थ किसी उपनगरी में एक घर बनाने का उपक्रम प्रारंभ किया गया। डॉक्टर से चर्चा के दौरान घर का ज़िक्र आ जाता है। त्रिंबकराव के मन में अपने घर की भावना ने कितनी गहरी जड़ें जमा ली हैं, इसका चित्र मुख से निकलने वाले इन शब्दों में देखिए : **जब-जब मैं आँखें मीचता हूँ तब-तब रह-रह कर मेरे सामने वही चित्र आता है कि मानो मैं अपने घर के बाहरी ओटे पर बैठा हुआ हूँ; प्रातःकालीन सूर्य का प्रकाश चारों ओर से घर में प्रवेश कर रहा है और इस सुनहले प्रकाश में मैं सूर्य-रश्मि-स्नान कर के निकल रहा हूँ।**

इसी तरह एक दूसरा चित्र भी सतत रूप से आँखों के सामने घूमता रहता है : रात्रि **के समय मैं छत पर बैठा हुआ हूँ। आकाश में चारों ओर तारे ही तारे टिमटिमा रहे हैं। तारों से भरे हुए उस आकाशरूपी नीले वितान के नीचे बीच में अकेला ही बैठा हुआ हूँ।** त्रिंबकराव के इन वाक्यों के माध्यम से लेखक ने उक्त पात्र के हृदय में पैठ कर उसके हृदगत भावों की बड़ी ही सुंदर अभिव्यक्ति की है। निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि हृदगत भावों को समझ लेने की अपूर्व क्षमता लेखक में है।

निजी घर न होने के कारण अब तक जो मान-हानि सहन करनी पड़ी, उसके कारण ही त्रिंबकराव के मन में अपना घर बनाने की भावना दृढ़मूल होती गयी और इस कामना की पूर्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए अपने सारे सुखों की आहुति दे कर भी इस कार्य को पूरा करने की उसकी इच्छा जागरूक हो उठी। अतः दूसरे दृश्य में त्रिवकराव के आत्म-कथन व जानकीबाई के कथन द्वारा व्यक्त व्यथा किसी भी सहृदय पाठक के मन पर सहज ही में अपना असर कर जाती है। तीसरे दृश्य में अप्पा द्वारा घर पूरा हो जाने का समाचार श्री त्रिवकराव तक पहुँचाया जाता है। घर की पूर्ति की बात सुन कर **मेरी तपस्या अब पूरी हुई** इस तरह के आत्म-संतोषात्मक उद्गार उक्त पात्र के मुँह से सहसा ही निकल पड़ते हैं। आनंदातिरेक को त्रिबकराव रोक नहीं पाते; नये घर में प्रवेश की बलवती इच्छा उन्हें दौड़ पड़ने को बाध्य करती है, किंतु शरीर की कमज़ोरी के कारण डगमगा कर गिर पड़ते हैं और एकबारगी ही सब कुछ समाप्त हो जाता है।

उत्थायोत्थाय लीयंते दरिद्राणां मनोरथाः इस सिद्धांत की एक सफल अभिव्यक्ति लेखक ने इस एकांकी में की है। यह भी नितांत सत्य है कि एकांकी के सभी पात्र आज के मध्यवर्गीय कुटुंब के जाने-पहचाने से ही प्रतीत होते हैं अतः सारा कथानक हर साधारण पाठक के चारों ओर का ही कथानक है ऐसा लगने लगता है, यही लेखक की कला की सफलता है।

'सांबर' नामक एकांकी का नायक कुंजा सांबरी जमात का एक ऐसा युवक है जो झाड़ों से साम्हर की आकृति बनाता है, साम्हर पर गाने रचता है और नित्य नये नृत्य करता है। सांबरी जमात के युवक, कुंजा को अपना नायक मानते हैं। झिप्री एक तरुणी प्रेयसी है। किंतु एक आश्चर्यजनक बात यह है कि कुंजा पर अपने प्राणों से भी अधिक स्नेह करने वाली, अपना रक्त दे कर भी उसकी प्राण-रक्षा करने वाली उसकी माँ मुग्ली को कुंजा की प्रतिभा के विषय में कुछ विशेष सा नहीं लगता। इसका एकमात्र कारण यह है कि सांबरी जमात की परंपरा के अनुरूप उक्त जमात के प्रत्येक युवक को एक साम्हर का शिकार करना चाहिए, किंतु चूँकि साम्हरों का शिकार करने वाले पराक्रमी नायक के लड़के कुंजा ने अभी तक एक भी साम्हर का शिकार नहीं किया है अतः वह उसे वीर नहीं मानती वरन भीरुओं की कोटि में गिनती है और उसकी विडंबना करती है, मुग्ली माँ के व्यंग्यभरे एवं तीखे वचनों से संतप्त हो कर सांबर अपने मित्रसहित शिकार के लिए जाता है, किंतु शिकारी को आया देख कर साम्हर अचानक अपने आक्रामक पर घातक हमला बोल देता है और उसका प्राणांत कर देता है। यह समाचार सुनते ही मुग्ली शोकातुर हो मूर्च्छित हो जाती है। झिप्री से वह कहती है: 'झिप्रे, कुंजा के वध का कारण मैं ही हूँ। तीर से मेरे कलेजे को वेध दे।' वह उसके हाथों में तीर-कमान देती है। इस एकांकी का कथानक मूलतः झिप्री और मुग्ली के वार्तालाप से ही लिया गया है। कुंजा का कलाकार मन, कुंजा की प्रतिभा से उसकी ओर आकृष्ट झिप्री, पराक्रम ही जीवन का मूल्य मानने वाली मुग्ली, इन सबको एकत्र सँजो कर लेखक ने सारे वातावरण को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है। यद्यपि कुंजा नामक पात्र दर्शकों के सामने प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर उपस्थित नहीं होता। फिर भी उसके जीवन से संबंधित घटनाओं की बातों को लेखक ने कथा-वस्तु में इस ढंग से पिरो दिया है कि वे पाठक को अभिभूत किये बिना नहीं रहतीं। इस तरह सांबरी जमात की परंपरा के रूढ़ संकेतों के परिणामस्वरूप मौत के शिकार कुंजा की कथा ने इस दुःखांत एकांकी को और अधिक प्रभाव-शाली बना दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पैंजार' नामक एकांकी में शिवाजी के समय के हंबीर राव मराठा नामक सरदार के जीवन का एक अत्यंत नाटकीय प्रसंग वर्णित है। हंबीर राव की बहन गजरा का निंबालकर की लड़की द्वारा भयानक अपमान किया जाता है। उस अपमान का बदला लेने का जब अवसर आता है तब हंबीर राव प्रेम के चक्कर में पड़ जाता है। वृंदा जिस पर वह संताप के कारण जलता था और सई जिसके प्रेमपाश में वह आबद्ध था दोनों एक ही हैं ऐसा उसे लगता है। अत्यधिक संतापित हंबीर पहले तो वृंदा के गालों पर चप्पल मारने के लिए दौड़ता है, किंतु दूसरे ही क्षण वह वही चप्पल अपने ही गाल पर मार लेता है। इस एकांकी में लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण विशिष्ट शब्दों के सहारे किया है। सामरिक प्रसंगों के सर्वोच्च क्षणों में हंबीर राव कुछ अधिक न बोलते हुए जिस प्रकार का वर्ताव करता है उस से यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि केवल शब्दों का आडंबर न रच कर नाटक को गतिमान बनाने की असाधारण क्षमता लेखक में है।

''रक्त आणि अश्रु' में हिंदू और मुसलमान की भेदपरक भावना पर वात्सल्य और मानवता की भावना किस प्रकार विजय पाती है इसका सुंदर दिग्दर्शन है। इस एकांकी में न तो लंबे-लंबे संवादों का समावेश कहीं है और न नाटकीयता के तत्वों को उभार कर दिखाने में एकमात्र भावनाओं को ही बनाया गया है।

'चांदवण्यांत मृत्युं' और 'हृदयें', इन दोनों एकांकियों के अंत में अनपेक्षित मृत्यु का दृश्य है। रामदास नामक जहाज में चांदवणें नामक गाँव के जनू के पानी में डूबने के कारण मृत्यु हो गयी है ऐसी धारणा हो जाने पर भी जनू सकुशल वापस घर लौट आता है। उसके घर आने के कारण उसके पितामह को शोकमिश्रित आनंद का इतना जोरदार झटका बैठता है कि उनकी मृत्यु हो जाती है। उसी प्रकार 'हृदयें' इस एकांकी में मधुमेह और रक्तचाप से पीड़ित अप्पासाहब की पत्नी उन्हे छोड़ कर जाने के लिए तैयार हो जाती हैं। यद्यपि रोग से ग्रसित होने के कारण इनकी मृत्यु अधिक संभव थी, किंतु होता यह है कि जिसके साथ यह पत्नी पलायन करना चाहती थी उस चंद्रशेखर की ही हृदय की गति रुक जाने के कारण मृत्यु हो जाती है और इस प्रकार इस प्रेमकथा का करुण अंत होता है। पति को छोड़ कर अन्य किसी के साथ भागने का निर्णय करने की जानकारी मिलने पर पाठक के मन में आगे क्या होता है, जानने की स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है और प्रेमपात्र की आकस्मिक मृत्यु से एकांकी का एकदम अंत हो जाता है। लेखक की विशेषता यही है कि वह अंत तक पाठक की जिज्ञासा को क़ायम रखने में समर्थ होता है। हाँ, मन पर एक ऐसा असर अवश्य होता है जिससे लगता है कि एकांकियाँ का अंत अनपेक्षित सा हो गया है।

'शिवाजी शहाजी भोसले' नामक एकांकी में 'हम भी आदमी ही हैं' इस भावना की बड़ी सहज अभिव्यक्ति हुई है। 'बांदिवलींत डाक्टर' नामक एकांकी में प्रौढ़ कुमारियों के जीवन में उठने वाली नैसर्गिक भावनाओं के परिणामस्वरूप उन्हें जिस प्रकार छला जाता है, उसका बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है। काणेंकर जी को ढोंग से अतः निश्चय ही ढोंगी से बड़ी चिढ़ है। फिर भी किसी ढोंगी का चित्रण करते समय अपने चित्रण में वे तनिक भी हल्केपन का अवलंब नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेते। इस एकांकी में विशेष कथावस्तु के न होने पर भी मार्मिक वर्णन-प्रणाली के कारण ही एकांकी रोचक एवं सुंदर बन पाया है।

'धूँर' नामक एकांकी के शीर्षक के आधार पर उनका एक एकांकी-संग्रह 'धूर आणि इतर एकांकिका' के नाम से प्रकाश में आ चुका है। इस एकांकी की मध्यवर्ती कल्पना अत्यंत नाट्यपूर्ण है। सिनेमा-कंपनी चलाने की कल्पना मन में सँजोये, चार युवक कलाकार एक दूसरे का लाभ उठा कर जनता की आँखों में धूल झोंकने का किस तरह प्रयत्न करते हैं, इसकी दिलचस्प कहानी इस एकांकी में अत्यंत सुरुचिपूर्ण ढंग से वर्णित है। यह बात दूसरी है कि जनता ने इन्हें कोई आर्थिक सहयोग नहीं दिया और इस कारण इनकी इच्छाएँ बालू की भीत की तरह ढह गयीं। कथानक को चार दृश्यों में विभाजित कर देने के कारण पाठक के मन पर सम्मिलित रूप में प्रभावकारी परिणाम नहीं पड़ पाता, संवाद भी विशेष परिणामकारक परिलक्षित नहीं होते। इन सब कारणों से यह एकांकी अत्यंत साधारण कोटि का ही बन पाया है।

रूपांतरित एकांकियों में 'काव्ठोख' व 'आत्महत्या' ये दो एकांकी अत्यंत प्रभावोत्पादक हैं। 'काव्ठोख' में वातावरण-निर्मिति तथा चरित्र-चित्रण सुंदर बन पड़े हैं। आत्महत्या के संवाद बड़े ही प्रभावकारी हैं। 'सोनपरी चाँदपरी' का आश्चर्यजनक वातावरण गतिशील संवाद तथा रूपक और दीपक के स्वभाव को प्रदर्शित विरोध आदि गुण बड़े ही उभर कर पाठक के सामने आये हैं।

प्रसंगानुकूल संवाद, कथावस्तु को गतिशील बनाने के लिए उपयोग में लायी गयी योजना, मानव-स्वभावों में दिखायी पड़ने वाले विरोध का सफल दिग्दर्शन आदि कागेकर जी के एकांकियों के ऐसे विशिष्ट गुण हैं जो सहज ही में पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं एवं उन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। अपने एकांकियों को अभिनेय बनाने की भी पूरी जागरूकता उन्होंने बरती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए यह निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि कागेकर जी मराठी के सफल एकांकी लेखकों में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

—राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
वर्धा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच मराठी कविताएँ

●●

एक समीक्षक : काल्पनिक

मंगेश पाडगाँवकर

धीमे कुनमुनाने वाले अपने मन को
उसने अहंकार के
हिलते पालने में सुला दिया

मगर खुद उसे नींद कहाँ?
इन दिनों उसे अनिद्रा की शिकायत
हो गयी थी।

सुलगायी चारमीनार; कड़वे धुएँ के
छल्ले बनाते हुए
कुनमुनाते मन को झुलाने लगा।

कोई क्रांतिकारक मंतव्य दे कर
आकर्षण का केंद्र बनना चाहता था वह
प्रतिष्ठित लेखक बड़ा ऊधम मचाये हैं
सभी कुर्सियाँ अड़ा कर बैठ जाते हैं।
वह उठायेगा विरोध का स्वर
प्रतिष्ठित नाम मिटायेगा ले कर रबर
लिखेगा नये रचनाकारों के नाम
और सबके बीच में चमकेगा
उसका खुद का नाम।
उसका खुद का नाम।

कुनमुनाते मन को उसने फिर
हौले हाथों झुलाया
आदत के मुताबिक़।

आलमारी के पास की
उदास दीवार पर
निरुद्देश्य भटक रहे थे चार खटमल;
वह उठा और बुकशेल्फ़ से निकाल कर
पढ़ने लगा एक किताब
'अस्तित्ववाद'
'लाजिकल पाज़िटिविज़्म'
अपनी चिमटी से चट से पकड़ लिये उसने
यही दो शब्द।
इनके अर्थ की चिंता
करूँगा बाद में
अभी तो उपयोगी हैं
शब्द ही।
प्रतिष्ठित लेखक साले
खूब चर्चित हो रहे हैं।
उसने कोने में देखा
एक झींगुर मस्ती से डोलता हुआ
आगे बढ़ा।
फ़िर, पेन में स्याही भर कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह लिखने बैठा
और बस लिखता रहा।
कल की डाक से यह समीक्षा-लेख
जाना ही चाहिए
साहित्य-जगत की अंधेर-गर्दी
मिटाना ही होगी।

आधी रात बीत गयी
फिर भी लिखता रहा वह।

सुबह-सुबह कुर्सी पर बैठे ही
आँख लग गयी उसकी।
कुनमुनाने वाले मन का पालना
थम गया था।
आलमारी के पास वाली
दीवार पर
चार खटमल
अभी भी घूम रहे थे
निरुद्देश्य !

इंदिरा

पद-यात्रा

कोई अज्ञातशक्ति देती है अभिशाप
और पद-यात्रा शुरू हो जाती है
क़दम के बाद क़दम उठते हैं
कितना समय पीछे छूटता जाता है
कितने ही पथ पार किये जाते हैं
कितने क्षितिज पीछे रह जाते हैं
फिर भी गतिवान रहते हैं पद !

वे पथ पता नहीं क्या-क्या
दे चुकते हैं पथिक को ?
कोहरे में पैर हो उठते हैं आर्द्र
और जल की सतह पर
जमती है थरथराहट;
हरियाली देती है सुखद स्पर्श पैरों को
और रोम-रोम में भर जाती है
सुख की सुगंध;

कितने ही अंगों पर
गिरते-उठते हैं क़दम
और अँजुरी में जमा होती हैं
लाल चिनगारियाँ;
चलते रहते हैं क़दम।

चलते-चलते
ऐसा भी आता है कोई क्षण
कि सामने शेष नहीं रहती कोई राह।
पिछला क़दम उठा कर
आगे धरने के लिए
कुछ भी नहीं रहता सामने।
रहता है मात्र अवकाश
अनंत और भयावह।
घबराये हुए क़दम
चौंक उठते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दूसरे से सटे
खड़े रहते हैं वेचारे चुपचाप।

उस क्षण
केवल यही होता है करणीय
कि पथ के सारे चिन्ह
मुट्ठी में समेट कर
सामने प्रस्तुत अवकाश में
फेंक देना चाहिए
आँखों में
एक भी आँसू लाये बग़ैर।
और पैरों के नीचे की मिट्टी
कस कर समेट रखना चाहिए
उसी मुट्ठी में।
वही होती है सत्य
अंतिम।
उन क्षणों में भी
सबके पीछे रहने वाली
यह मृत्तिका ही
देती है सहने की शक्ति;
और सिखाती है
दो नये शब्दार्थ :
चरम निराशा का ही अर्थ है
शांति !
घोर विफलता का ही अर्थ है
मुक्ति ! !

आरती प्रभु

कानों तक पहुंच रहे हैं

कानों तक पहुँच रहे हैं
बीमार परिवेश के मुर्दा हाथ
कैसी ये आहटें मिल रही हैं
कर्कश,
कितनी दूर से ?
ऐन नमाज़ के वक़्त
टूट पड़ीं मस्जिद की मीनारें
बम-वर्षा से;
ध्वस्त हो गया अस्पताल
ज़ख्मी जवानों का;
ताल के राजहंसों
जीवन की आस्था के पहरेदारों का;
अगले जन्म में
बनूं एक सुंदर बाग़ीचा
तुम्हारी पूजा के लिए।

कानों तक पहुँच रही हैं
अकेली छायाएँ
भरभरा कर गिरी हुई दीवार के नीचे
दबे हुए प्रेतों की;
पुरानी पोथियों में लिखे हुए
धर्मांध शब्दों पर
पुत रही है कालिख;
बिखरे अंडों के ढेर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी एक में भी नहीं
कोमल चोंच का अस्फुट स्वर
धर्म : मुँह की भाप पर
जमा हुआ कोहरा।
भव्य प्रार्थना :
मानो ध्वस्त हो गया हो
मंदिर का भव्य घंटा
ध्वस्तकाल की उसकी अनुगूंज
बर्फ़ बन कर जम गयी है हवा में;
अगले जाड़ों में
और भी सर्द हो कर
जब झनझनायेंगे
तभी फूटेगा
नये वसंत का प्राणमय उद्घोष
उस उद्घोष की
ताज़ी, तिरछी स्वर-लहरियाँ
पहुँच रही हैं
मेरे कानों तक।

एस० जी० अकोलकर

नियति

उस मानवीय जीवन को धिक्कार
जहाँ श्रद्धांजलि भी
आत्म-प्रदर्शन का बहाना है;
अनिर्वचनीय माया के पर्दे के पीछे
जहाँ बेजान कठपुतलियों का
खेल चलता है;
उसे अन्याय कहना भी है एक अपराध
क्योंकि आखिर
न्याय भी तो एक मानवीय धारणा ही है
जिसकी संकुचित परिभाषा में
समाती नहीं
ईश्वर की प्रचंड पवन-चक्की।
चौरासी लाख योनियों को
नष्ट करने के बाद भी
उस ईश्वर का चरित्र
रहता है बेदाग़
धुले चावलों की तरह;
रोना बस यही है
कि सभी बीमारों को
मिलता नहीं
मुट्ठी भर भात
(और नीबू का अचार)
पिंड-दान की ख़ातिर;
और मुक्तिदाता (शैतान) कौआ
हमेशा रहता है
भूखा का भूखा!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ० रा० देशपांडे 'अनिल'

स्वांत

आत्मलीन निस्तब्धता की कालिख
प्रकाश के कोमल स्वरों को
कुचल देती है,
भयभीत क्षितिज की चोटी
खंडित होते-होते
आकाश के वक्ष से लिपट जाती है,
धरती (जहाँ गड़ा हुआ है आँसुओं का धन)
अचानक उठती है जाग
निःश्वासों के चोरक़दमों की
आहट पर
फूत्कारता है अभिमंत्रित नाग;
सूखी हुई आँखों की पुतलियाँ
घूमती हैं भीतर को
और देखती हैं
अपना ही अपरिचित प्रतिबिंब
अँधेरे कुएँ के गहरे जल में;
मन को भरमाते हैं
नींद के घुँघराले काले केश,
आतुर मुद्रा के साँवले हाथ
खींचते हैं बलपूर्वक शैया पर;
जीवन के स्तन-कुंभों के
स्पर्श के साथ ही
जब चूमता हूँ मृत्यु के श्याम अधर
तभी आत्म-विस्मृति की रति-क्रीड़ा में
कितनी ही रातों के
गात्र-याम ढलते हैं

●●

अनु० : दिनकर सोनवलकर,
दमोह (म० प्र०)

दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे

ऑर्फ़ियस

१

आश्चर्यचकित करने वाले पर्वतीय दृश्य में, धूप की भयंकर लपटों के बीच उस क़ब्रिस्तान का लोहे का दरवाज़ा खुला हुआ था। हम कार से उतर कर उसके अंदर चले गये।

दोपहर का खाना काफ़ी भारी हो गया था। बीयर उतर जाने के कारण सिर भारी सा हो गया था। क़ब्रिस्तान होने का एहसास, घास पर निरुद्देश्य चलते हुए, धुंधला सा पड़ गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। हम चारों अलग-अलग चल रहे थे। मैं तो शेष तीन के साथ होने की बात भी क़रीब-करीब भूल गया था।

माली ने बगीचे की काफ़ी अच्छी देख-रेख की थी। नाना प्रकार के शांत, प्रसन्न, जीवित फूलों के वृक्ष! समतल हरियाली! बीच में लाल मिट्टी पर काले पत्थर लगा कर बनायी चक्करदार पगडंडियाँ!

फिर अचानक मेरे ध्यान में आया कि हरियाली के बीच क्यारियाँ काट कर क़ब्रों के पत्थर सजाये गये थे। उन क्यारियों में विभिन्न जाति के, विभिन्न लंबाई-चौड़ाई वाले पत्थर विशिष्ट नामों को ले कर खड़े थे। ज़मीन के नीचे, गहरे इन पत्थरी बीजों के नीचे निर्मूल हुए जन्म गड़े थे।

उस स्तब्ध वातावरण में मैं मानो स्वप्न समान अलग हो चल रहा था। मेरी चाल धीमी हुई, मेरे क़दम स्वयं के जीवित होने का भार सहेज कर पृथ्वी पर डाल रहे थे। मानो मैंने किसी प्रक्षिप्त प्रदेश में प्रवेश किया था, जहाँ मेरे लिए गुंजाइश थी परंतु स्थान न था। उतरती धूप के निखरते रंगों में स्थित वह क़ब्र सहिष्णुता के साथ हमेशा के लिए चुप थी तथा मेरे ओठ खुल नहीं रहे थे।

और कुछ घंटों में शाम ढलती, फिर रात्रि! चाँदनी में ये सफ़ेद पत्थर, काँस और फूलों की क्यारियाँ धूमिल हो जायँगी। फिर यूँ महसूस होता कि यहाँ की क़ब्रें शांत हुए वाद्यवृंद समान अभी-अभी क्षण भर के लिए स्तब्ध हो गयी हैं।

मैं एक खुरदरे चबूतरे पर बैठ गया।

: २ :

सामने की क़ब्र पर लिखा था:

अना म्रान्हाकियान
जन्म—१७ सितम्बर १९३८
मृत्यु—२६ दिसम्बर १९५८

उस क्षण मैंने जाना कि इतना सही, सरल, उदास, शांत विधान मैंने पहले कभी नहीं देखा था। फिर सोचा, यह आर्मेनियाई लड़की कौन है, यहाँ कैसे आयी, इस मिट्टी के नीचे कैसे गयी? इसका स्वभाव कैसा था? वह कैसी दिखती थी?

बीस के इर्द-गिर्द उमर वाली हज़ारों लड़कियों के चेहरे मेरी नज़र के सामने झूल गये। सुंदर नहीं, कुरूप नहीं, केवल जीवित, महज़ जीवित। हज़ारों हथेलियाँ मेरे सामने खुलीं, हज़ारों चंद्र और शुक्र के पर्वत (हथेली पर) और उनके दोआब में से जाने वाली जीवन-रेखाएँ हज़ारों विवस्त्र बाहु, हज़ारों नंगी पीठें, हज़ारों काँपते वक्षस्थल, हज़ारों नंगे जीवित शरीर, गदराया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ, शांत, प्रगल्भ, नाचता, उफनता या फिर ठंडा, सर्द जीवन, किन्हीं के चेहरे पर चेचक के दाग़, तो किसी की नाक या आँख कम-ज्यादा उठावदार।

परंतु मेरी आँखों के सामने अॅना आव्हाफियान का चेहरा ही न आये। बिल्कुल सामने मिट्टी के नीचे, पत्थर के नीचे कहीं तो भी उसका संपूर्ण शरीर था। हम दोनों के बीच महज एक क़ब्र का पर्दा था। आस-पास भी कोई न था, परंतु अॅना का चेहरा मुझे दिखायी न पड़े।

३

अॅना आव्हाफियान और मेरा जन्म एक ही दिन, एक ही तारीख को, एक ही साल में हुआ था। हम समवयस्क थे। संसार में जो कुछ तीन-चार हज़ार बच्चे—तीस-चालीस हज़ार बच्चे—इस दिन जन्मे होंगे—उसमें से हम दोनों।

अॅना लेकिन बीसवें साल में मर गयी

अॅना कैसे मरी ?

न्यूमोनिया ?

पेट के संसर्गजन्य रोग से ?

मूत्रपिंड का विकार ?

'मेनेंजायटिस' ?

'एनकॅफलायटिस' ?

पीलिया ? 'लिव्हर डैमेज' ? 'सिरहॉसिस' ?

केंसर ?

टी० बी० ?

विष खा कर ?

फाँसी लगा कर ?

मोटर के नीचे आ कर ?

हृदय-विकार से ?

अॅना आखिर पहले किस कारण से मरी ?

४

झटके के साथ क़ब्र खोल कर मुस्कराते हुए, माथे पर आये बालों को बग़ल में सरकाते हुए, शरीर पर पड़े फूलों को झटकते हुए अॅना बाहर आती तभी इन सारे प्रश्नों का उत्तर मिलता।

जीवित स्थिति के गुच्छे का अंत होने पर सौ पंखुरियाँ गिनने पर भला क्या मालूम होगा ?

अॅना, अॅना, अॅना....

इस क़ब्रिस्तान से बाहर जाते समय मुझे पीछे पलट कर नहीं देखना चाहिए। हो सकता है, यदि मैं पीछे पलट कर न देखते हुए बाहर आ गया तो, अॅना भी लोहे के दरवाज़े के पीछे से इस संसार में जीवित रूप में आ जाये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम सूर्यास्त के समय क़ब्रिस्तान से बाहर आयें।

५

बाहर भयंकर ठंडक थी।

मैं सिगरेट की डिब्बी ले कर होटल के 'लाउंज' में आया ही था।

"ऊब गये, क्या शतरंज की बाज़ी बिछायी जाय?"

टेब्ल, बोई, प्यादे, मोहरे, कुर्सियाँ, खिलाड़ी क्वीन्स पान टू क्वीन फोर, पान टू किंग्स बिशप थी—

खेल शुरू हो गया

हम दोनों ने ही कड़क ब्रांडी का एक-एक पेग लिया था। अत्यंत क्लिष्ट, कुटिल दाँव-पेचों के बीच भी अँना की याद आती।

क्या मैंने लौटते में पीछे मुड़ कर देखा था?

"ड्रॉ"

"मंजूर"

हम टेब्ल पर से उठ बैठे।

६

आधी रात के क़रीब वह लड़की अंदर आयी। यद्यपि वह गोरी थी परंतु ज़रा स्थूल-काय। उसके चेहरे पर 'मेकअप' की गहरी पर्त थी।

यह—क्लिओपात्रा की 'ममी' हो सकती है—हज़ारों वर्ष पूर्व से फ्रोफॅगस से उठ कर आयी हुई।

उसके शरीर से इत्र के सिवाय और कोई अन्य ख़ुशबू नहीं आ रही थी। उसकी आँखों में नक़ली पलकें लगायी गयी थीं।

धुँधले प्रकाश में उसने कपड़े उतारे। मैं एक अजीब तप्त मनोदशा में था। लोहे के दरवाज़े खुलने के समान उसका स्कर्ट खुला।

शूः।

—बाद में बिस्तर पर पड़े-पड़े मैंने उससे पूछा—

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"अँना! केवल अँना"——मुस्कराते हुए उसने कहा।

बाहर अभी भी भयंकर ठंडक थी।

"अँना? अँना?" मैं बुदबदाया, अर्थात मैंने वापस आते समय, आख़िर पीछे मुड़ कर नहीं देखा।

—अनु० : शरद मोझरकर

२१४, लार्डगंज कछयाना, जबलपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेचना | बच्चन सिंह

समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती

आज का रचनात्मक साहित्यकार प्रायः यह फ़िक़रा कसता है कि उसके और पाठक के बीच आलोचक को खड़ा होने का कोई हक़ नहीं है। वह सोचता है कि आलोचक या तो उसे सलाह देने के लिए लिखता है या पाठक के लिए दुभाषिए का काम करता है अथवा उसका ख़याल है कि आलोचक समकालीन साहित्य का संगत विश्लेषण नहीं कर पाता, इसलिए उसे इस साहित्य से अलग हो जाना चाहिए। पर ये बंध्या उपपत्तियाँ हैं। आलोचक को खूब मालूम है कि रचनात्मक साहित्यकार किसी की सलाह नहीं मानता। अगर किसी की सलाह मानता है तो अपने प्रकाशक की। रचयिता के लिए किन्हीं अंशों में पाठक का ध्यान रखना आवश्यक होता है पर आलोचक के लिए नहीं। आलोचक की दृष्टि में तो रचयिता भी महत्वपूर्ण नहीं है। महत्व है उसकी रचना का।

आलोचक के प्रति उसके अविश्वास ने रचयिता को अपने संबंध में स्वयं लिखने पर मजबूर किया। किंतु उसका लेखन कभी प्रामाणिक रूप में स्वीकार नहीं किया गया और न किया ही जा सकता है। उसकी रचना के संदर्भ में जब उसकी मान्यताओं की जाँच हुई है तो कभी उनसे दिशा-निर्देश मिल गया है, कभी उलझनें और भटकाव। अपने प्रति अविश्वस्त रचयिताओं ने अपनी भूमिकाओं में प्रायः यह कहा है कि पाठक उनकी मान्यताओं से नहीं बल्कि रचनागत अभिव्यक्तियों से ही अपना निष्कर्ष निकालें। ज़ाहिर है कि वे भी चाहते हैं कि आलोचक अपना ध्यान रचना पर केंद्रित करे, उनकी मान्यताओं पर नहीं। रचना के आधार पर आलोचक जो नयी वैचारिक संघटना करता है उसका स्वतंत्र अस्तित्व है और इसी का नाम आलोचना है।

यह पहले ही संकेतित किया जा चुका है कि आलोचक न रचयिता के लिए लिखता है और न पाठक के लिए। विश्वविद्यालयीय आलोचकों की दो कोटियाँ होती हैं—आलोचक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राध्यापक और प्राध्यापक आलोचक। दूसरी कोटि के लोग पाठकों के ही लिए लिखते हैं। पर सच्चा आलोचक मुख्य रूप से समकालीन रचनाओं की आलोचना करता है और अपने लिए लिखता है। वह अपने उलझे हुए विचारों को सुलझाने और टेढ़े-मेढ़े चिंतन को क्रम देने के लिए लिखता है। उसके आलोचनात्मक चिंतन से रचयिता को सलाह और पाठक को दिशा मिल जाय तो उसे प्रसन्नता होती है।

यों रचयिता के शिकवे को एकदम नकारा नहीं जा सकता। आलोचक गुमराह भी कम नहीं करता। उसके पास गुमराह करने के दो तरीक़े हैं——सस्ती पत्रकारिता और परिचर्चाओं की घटिया प्रदर्शनी का आयोजन चाहे कलकत्ते की महानगरी में हो या राजधानी में, आयोजकों में चाहे धन्ना सेठ हों या टुटपुँजिये साहित्यकार—कोई फ़र्क नहीं पड़ता। ऐसा आलोचक रचयिता को सलाह ही नहीं देता उसका इस्लाह भी करता है। पाठकों के सम्मुख वह कृति को नहीं, कृतिकार को रखता है और अपनी वक्रोक्तियों से उन्हें चमत्कृत कर देता है। कृति की जगह कृतिकार को रखने से लाभ यह होता है कि उसके चतुर्दिक मंदः कवि यशः प्रार्थी का हुजूम जुट जाता है। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब वह अपनी गुत्थियों को न सुलझा कर दूसरों की काल्पनिक गुत्थियों को सुलझाने लगता है, जब वह अपने को न संबोधित कर रचयिताओं और पाठकों को संबोधित करने लगता है।

पुराने साहित्य के मूल्यांकन के ढर्रे बँध गये हैं। उनके मान सुनिश्चित हैं। उनके आधार पर उनका भी नया मूल्यांकन संभव नहीं है। आज उन्हें नये संदर्भ में देखना होगा। कृतियाँ वही होती हैं; वे नहीं बदलतीं। हम बदल जाते हैं; ज़माना बदल जाता है। उन कृतियों के माध्यम से हमारे बदले हुए दृष्टिकोण और बदली हुई मान्यताओं की परीक्षा होती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में अपने बदलने का सबूत दिया है न कि संत साहित्य के। रामविलास शर्मा ने 'कालिदास' और 'वाल्मीकीय रामायण' पर लिखे अपने निबंधों में जो नया संदर्भ लिया है वह उनकी अपनी युगीन चेतना है। सच्चे अर्थ में आलोचना समसामयिक साहित्य की ही होती है। इसी के आधार पर पुराने साहित्य का नया मूल्यांकन किया जाता है। नंददुलारे वाजपेयी और नगेंद्र की प्रतिष्ठा मुख्यतः उनके समकालीन साहित्य के विवेचन पर ही हुई थी। शुक्ल जी और वाजपेयी जी का गहरा मतभेद दो युग की संवेदनाओं का मतभेद था।

पर आज का साहित्य तो इतना अधिक बदल गया है कि इसके लिए पुराने मान-मूल्य लगभग बेकार हो गये हैं। अब भामह, दंडी, मम्मट, अभिनव गुप्त भारतीय काव्यशास्त्र के विषय रह गये हैं। एक समय था जब उनके मतों का हवाला काव्य को बोधव्य बनाने और आलोचक के पांडित्य का इज़्हार करने में सहायक होता था। नये साहित्य ने पांडित्य की चिर प्रतिष्ठित गरिमा को जबर्दस्त धक्का दिया है। छायावाद-काल तक किसी क़दर पुराने हथियारों से काम चलाया जाता रहा है। अब तो उनकी ज़रूरत ही महसूस नहीं होती। यों उपर्युक्त सभी आचार्य शास्त्रप्रणेता थे। आलोचक नहीं, उनकी मान्यताओं के आधार पर काव्यानुभूति को न कभी विवेचित किया जा सका है और न किया जा सकता है। व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से उन्हें किसी संग्रहालय के 'क्यूरियो' में रखना ही बेहतर होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टी० एस० इलिएट की नक़ल पर कुछ लोग क्लासिक पर बेहद जोर देते हैं। उनका कहना है कि 'क्लासिकल' साहित्य में कुछ ऐसा है जो सार्वकालिक और सार्वभौम है। आलोचक को यह देखना होगा कि उनकी व्याप्ति और गहराई कहाँ है। उनके गहन अध्ययन द्वारा वह उच्च श्रेणी के काव्यों की पहचान कर सकेगा। उसे यह साहस नहीं होगा कि क्षुद्र कृतियों को महत कर सके। इस कथन की सचाई को परखना आवश्यक है। क्या कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों की ऊँचाई से अभिज्ञ आलोचक आइनेस्को, सैमुएल बेकेट, एर्राबल, एलबी आदि के ऊल-जलूल नाटकों का मूल्यांकन कर सकता है? ये नाटक सभी शास्त्रीय प्रतिमानों को झुठला देते हैं। इनके चरित्रों को मुश्किल से मानवीय कहा जा सकता है। उनके क्रिया-कलापों में सोद्देश्यता भी नहीं दिखायी पड़ती। उनके संवादों में भी तार्किक संबद्धता नहीं होती। शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर उन्हें नाटक भी नहीं कहा जा सकता। फिर ये नाटक हैं और इनके द्वारा नाटक की नयी परंपरा विकसित हो रही है।

क्लासिकल नाटकों के किंचित चक्कर में पड़ने वाले लोग इनके साथ अन्याय ही करेंगे। इनकी बात जाने दीजिए, 'अंधा युग' के मूल्यांकन में क्लासिक किसी काम नहीं आयेंगे। 'नयी कविता' की समीक्षा के लिए किस क्लासिकल काव्य को पढ़ा जाय? सूर, तुलसी, देव, बिहारी का गहरा से गहरा अध्ययन क्या उसके लिए समीक्षा-दृष्टि प्रदान कर सकता है? प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेंद्र, यशपाल, अश्क की कहानियों के मानों से क्या नयी कहानियों को परखा जा सकता है? प्रेमचंद और जैनेंद्र की परंपरा के उपन्यास नये उपन्यासों के मूल्यांकन में कोई योग दे सकते हैं? ज्वायस, हेमिंग्वे, उल्फ़ के उपन्यासों से प्राप्त सिद्धांतों के आधार पर क्या डॉ० ज़िवागो की समीक्षा की जा सकती है? इन्हें इनकी अपनी विशेषताओं के आधार पर परखना होगा। प्रश्न किया जा सकता है कि तब क्लासिकी साहित्य की क्या उपयोगिता है? इसका उपयोग साहित्य का इतिहास लिखने के लिए ज्यादा जरूरी है। भिन्न-भिन्न युगों में बदलती हुई सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टियों की परख उनके माध्यम से होगी। उनका अध्ययन हमारे साहित्यिक संस्कारों को पुष्ट और परिष्कृत करता है, इसमें भी संदेह नहीं है। पर समकालीन साहित्य की आलोचना में उनकी उपयोगिता निःशेष हो गयी है। यदि उनकी तुलना आज के साहित्य से की जाय तो उससे कुछ बनने की जगह कुछ बिगड़ जाता है। उदाहरणार्थ, टालस्टाय के 'युद्ध और शांति' के वज़न पर प्रेमचंद के 'गोदान को 'एपिक नावेल' कह कर 'गोदान' की किन विशेषताओं को उद्घाटित किया जाता है? आलोचक' 'गोदान' में 'एपिक' तत्व ढूढ़ने लगता है और उसकी विशेषताएँ जहाँ की तहाँ रह जाती हैं।

वास्तविकता यह है कि आज का काव्य (साहित्य) केंद्रच्युत हो गया है। कोई ऐसी केंदीय वस्तु नहीं रह गयी है जिसकी ओर वह आकृष्ट हो। एक समय था जब ईश्वर और धर्म ऐसे केंद्रीय बिंदु थे। अब ये दोनों केंद्र ग़ायब हो गये हैं। नवीन ज्ञान-विज्ञान ने उन्हें समाप्त कर दिया है। समाजवादी व्यवस्था के प्रति भी वह कुछ दिनों तक आकृष्ट रहा, फ़्री वर्ल्ड के द्वारा कथित व्यक्ति-स्वातंत्र्य भी उसके आकर्षण का विषय था। पर आज दोनों के प्रति उसकी आस्था नहीं रह गयी है। नवीन चिंतन और वैज्ञानिक दृष्टि ने सृष्टि के रहस्यों को तर्कसम्मत और मानवीय बनाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कोशिश की। किंतु वे मानवीय बुद्धि को बराबर चुनौती देते रहे। उनका कोई हल नहीं मिल पाया। ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा सामूहिक केंद्र नहीं रह गया जो मनुष्य को बाँध पाने में समर्थ हो सके। आइरिश कवि येट्स ने बहुत पहले 'सेकंड कमिंग' कविता में लिखा था---'**थिंग्स फ़ाल ए पार्ट, दि सेंटर कैनाट होल्ड।**' यह स्थिति देशविशेष तक सीमित नहीं है, बल्कि सार्वदेशिक है। जितने व्यक्ति, उतने केंद्र। इसलिए अब सार्वभौम सत्य की अभिव्यक्ति का सवाल ही नहीं रह गया है। सार्वभौम सत्य की जगह व्यक्ति-सत्य ने ले रखी है। स्पष्ट है कि रचनाकार का कार्य पहले की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन हो गया है। आलोचक की स्थिति भी उससे भिन्न नहीं है। कवि की तरह उसे भी अपनी राह खुद तलाश करनी पड़ेगी। अब उसे कृति के भीतर से ही कृतिकार की अंतर्दृष्टि (विज़न) को पकड़ना होगा। इसके लिए आलोचना का कोई पूर्वनिर्मित फ़ार्मूला काम नहीं देगा। उसकी पकड़ की ज़िम्मेदारी आलोचक की अपनी अंतर्दृष्टि पर निर्भर करेगी।

समकालीन साहित्य--विशेष रूप से आज का साहित्य--आलोचक को चुनौती देता है। आज के साहित्य को निराशा, त्रास, अकेलेपन का साहित्य कहना बहुत संगत नहीं है। उसे चुनौती का साहित्य कहा जा सकता है। जो इस चुनौती का सामना करने को तैयार है उसी को आलोचना करने का भी अधिकार है। सच्चा आलोचक कवि की अंतर्दृष्टि से टकराता है और उसके संदर्भ में आत्म-परीक्षा करता है। वह अपने हथियारों को बदलता है, उनका नये सिरे से अन्वेषण करता है। सभी कृतियाँ उसे चुनौती नहीं देतीं। उनमें से अधिकांश चुनौतियों की भंगिमाएँ पहनती हैं। आलोचक को विवेकपूर्वक इन दोनों प्रकार की कृतियों को अलगाना होगा। यों भंगिमाएँ आलोचक भी पहनते हैं। वे कृतियों की भंगिमाओं को स्वयं ओढ़ लेते हैं और स्थान-स्थान पर उन्हीं का इज़हार करते हैं। उनकी बातचीत, लेखन, 'मैनरिज्म' पर उनकी मुद्राओं की गहरी छाप होती है। मुद्राएँ बराबर साहित्येतर होंगी---दार्शनिक, समाजवादी, मनोवैज्ञानिक आदि। गंभीर आलोचनाएँ मुद्राएँ नहीं पहनतीं। विवेचन के प्रसंग में उनमें पालमिक्स' का आ जाना अलग बात है।

यहाँ एक शंका उठती है कि जब जितने व्यक्ति हैं उतने 'विज़न' हैं तो प्रत्येक की आलोचना का 'विज़न' अलग होगा। ऐसी स्थिति में आलोचना का कोई सामान्य तथा लचीला प्रतिमान भी कैसे बन पायेगा! पर 'विज़न' हवाई नहीं होता। यदि लेखक के स्नायु-तंतुओं में युग का रक्त-प्रवाह नहीं है तो उसका कोई 'विज़न' बन ही नहीं सकता। आज के साहित्य के नितांत भिन्न हो जाने के मूल में आज का संकटग्रस्त युग ही है। लेकिन संकटग्रस्त युग की विवेचना आलोचना नहीं होगी, वह आलोच्य की पृष्ठभूमि हो सकती है। उसे देखना होगा कि युगीन संकट से गुज़रता लेखक कौन सा 'विज़न' देता है, जो इस संकट को अतिक्रमित करता है। सबके 'विज़न' अलग होते हुए भी वे संकटकालीन पीढ़ी के 'विज़न' हैं। इसी आधार पर आलोचना का परिनिष्ठित लचीला प्रतिमान बन सकता है। निश्चयवादी आलोचना शक्तिसंपन्न हो कर भी न्यायसंगत नहीं होती।

सवाल यह है कि रचयिता के 'विज़न' को कैसे पकड़ा जाय? प्रभावान्विति की व्याख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा ? पर इससे आलोचक के प्रभाववादी होने का खतरा बढ़ जाता है। दूसरी बात यह है कि आज का आलोचक व्याख्या नहीं करता। व्याख्या करने का काम टीकाकार ने ले रखा है। उसे पाठक को समझाना नहीं है और न रचयिता से प्रमाणपत्र लेना है कि वह उसकी रचना समझता है। उसे तो अपने विचारों को ही सुलझाना और संतुलित करना है।

रचयिता आज की ज़िंदगी को ऊल-जलूल बता कर उस पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाता है। वह मनुष्य को अँधेरे बंद कमरे में डाल कर उसे दीवाल से सिर टकराने की नियति से बाँधता है। वह हमें 'शॉक' देता है। इनके द्वारा वह ज़िंदगी को अर्थ देता है। जब वह यह कहता है कि आज की ज़िंदगी का अर्थ यह है कि उसका कोई अर्थ नहीं है तो वह अत्यंत सारगर्भित बात कह जाता है। आलोचक इस अर्थ की सार्थकता को पकड़ता है, उपयोगिता को नहीं। सार्थकता का मतलब है कि वह कितने गहरे आध्यात्मिक अर्थ में अपनी रचनात्मक परिकल्पना करता है।

पर यह रचनात्मक परिकल्पना अनेक स्तरों पर स्थित है और इससे अर्थ के अनेकानेक स्तर उद्घाटित होते हैं। पहले इस स्तर की स्थिति नहीं थी। पहले जीवन और साहित्य, दोनों के केंद्रवर्ती बिंदु थे। इसलिए साहित्य की स्थिति भी एक ही स्तर पर होती थी और अर्थों के स्तर भी अनेक नहीं थे। यदि अर्थ के स्तर एक से अधिक होते थे तो एक प्राकरणिक अर्थ होता था और दूसरा अप्राकरणिक। अप्राकरणिक अर्थ निहायत अगंभीर और चमत्कारपूर्ण होता था। इसके लिए श्लेष, वक्रोक्ति, यमक आदि अलंकारों का या शाब्दी-आर्थी व्यंजना का सहारा लिया जाता था। छायावादी काव्य की लक्षण-लक्षणा भी एक केंद्रवर्ती अर्थ का ही उद्घाटन करती थी। आज की कविता-कहानी में प्रयुक्त बिंब और प्रतीक अनेक अर्थों की सृष्टि करते हैं, पर वे स्वयं कविता-कहानी नहीं हैं। समूची की समूची कविता कविता है, समूची की समूची कहानी कहानी है। अब कहानी में एक केंद्रीय भाव नहीं खोजा जा सकता, क्योंकि संपूर्ण कहानी ही केंद्रीय भाव है।

छायावादी कवि आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति करता था, तो नया कवि आत्मान्वेषण करता है। 'आत्मानुभूति और 'आत्मान्वेषण' दोनों गोल शब्द हैं। अतः ये स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखते हैं। 'आत्मानुभूति' का अभिप्राय कोरी निजी अनुभूति नहीं है। कोरी निजी अनुभूति काव्य नहीं हो सकती। 'विभावन-व्यापार' के बिना काव्य-सृष्टि संभव नहीं है। पर छायावादी काव्य का प्रेरणा-स्रोत कवि की निजी अनुभूतियाँ ही है। सर्जन-प्रक्रिया के दौरान वे बहुत कुछ साधारणीकृत हो जाती हैं। आत्मानुभूति का संबंध संवेग या संवेदना से है जिससे उसके निजी जीवन से गहरा लगाव होता है। आत्मान्वेषण में महत्व मात्र संवेदना का नहीं, वैचारिक संवेदना का होता है। अभिव्यक्ति संवेदना की ही होगी, लेकिन अन्वेषण आत्म-सत्य का होगा, जो किन्हीं अर्थों में वैचारिक होगा। नया साहित्यकार आत्माभिव्यक्ति से संतुष्ट नहीं होता, वह अपनी संवेदना के भीतर किसी बड़ी संवेदना की तलाश करता है, जिसकी परिणति 'विज़न' में होती है।

आलोचक इस संवेदना को पकड़ता है। यदि वह कृति को समझने-समझाने के लिए अथवा कृति के संदर्भ में पाठक के सौंदर्य-बोध को क्षमतावान बनाने के लिए वैसा करता है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना अध्यापकीय होगी। रचना की बनावट और बुनावट का विस्तृत विवेचन शैलीगत सौंदर्य को उभारता है, स्वयं संवेद्य को नहीं। रचयिता की तरह आलोचक की धमनियों में भी युग-रक्त का ही प्रवाह होता है। इस सहधर्मिता के आधार पर ही वह अपनी पूरी ईमानदारी और समझदारी से रचनागत संवेदना को उजागर करता है। ईमानदारी और समझदारी आलोचना के दो पाये हैं, एक के अभाव में उसे बैसाखी पर चलना होगा।

रचनागत संवेदना का वह विश्लेषण या विवेचन नहीं करता; वह उसका पुनर्निर्माण या पुनस्सर्जन करता है। विवेचन अपेक्षाकृत स्थिर व्यापार है तो पुनर्निर्माण या पुनस्सर्जन गत्यात्मक और सक्रिय। इस व्यापार में वह अपने 'विज़न' की तलाश करता है; रचना के विविध स्तरों का उद्घाटन करता है। पुनर्निर्माण का यह मुख्य उपकरण है। पहले कहीं कहा जा चुका है कि नयी कृतियों के माध्यम से आलोचक स्वयं परीक्षित होता है, उसका अर्थ यही है। आलोचक के लिए परिप्रेक्ष का महत्व नहीं है लेकिन रचनात्मक साहित्यकार के लिए हैं। आलोचक तो देखे हुए को देखता है। आलोचक की पुनर्निर्माण की प्रक्रिया रचयिता की रचना-प्रक्रिया से भिन्न होती है। एक सचेतन व्यापार है तो दूसरा अवचेतन व्यापार। आलोचक रचना को युगीन संकट के व्यापक और गहरे संदर्भ में परखता है, उसे उन मानवीय प्रयत्नों के समकक्ष रखता है जिनमें संकट से जूझता हुआ मनुष्य संकट के आर-पार देखता है। इसी अर्थ में स्रष्टा द्रष्टा होता है। या यों कहिए कि द्रष्टा ही स्रष्टा होता है। रचना को किसी प्रवृत्ति के खाने में डाल कर, प्रवृत्ति चाहे साहित्यिक हो या साहित्य से इतर हो, स्रष्टा को नहीं परखा जा सकता। संकट-बोध, मूल्यगत गत्यात्मकता और युग की बदलती हुई माँगों के बीच रचयिता अपनी संवेदना के भीतर बड़ी संवेदना खोजता है और उसी के बीच आलोचक उसका पुनर्निर्माण करता है। यह निर्मिति रचना के सौंदर्य और मूल्य, दोनों का उद्घाटन करती हुई आलोचक की क्षमता और दर्जे का इज़हार करती है।

पुनर्निर्माण की इस प्रक्रिया में आलोचक को अंतःसंघर्ष से गुज़रना पड़ता है। वह संघर्षजन्य प्रश्नों का बौद्धिक समाधान नहीं देता क्योंकि अब आलोचना रसानुभूति की बौद्धिक प्रक्रिया नहीं रह गयी है। किन्हीं अर्थों में वह स्वयं रचनात्मक है। बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा वह सुनिश्चित परिणतियों पर पहुँचा करता था, पद्धति-निर्माण (सिस्टम बिल्डिंग) का हौसला रखता था। प्रक्रिया गौण थी, साधन थी; परिणति प्रधान थी, साध्य थी। लेकिन अब स्थिति ठीक उल्टी हो गयी है। प्रक्रिया प्रधान हो गयी है, परिणति गौण। परिणतियों से सहमत होना काफ़ी मुश्किल है, पर प्रक्रिया से असहमत होने का सवाल नहीं उठता। इलियट की परिणतियों का खंडन हुआ है, उसकी प्रक्रिया का नहीं। प्रक्रिया से मेरा मतलब है चिंतन-प्रक्रिया से।

इस चिंतन-प्रक्रिया से भ्रम होता है कि कहीं यह दार्शनिक प्रक्रिया तो नहीं है। लेकिन यह उससे भिन्न है, यह वैयक्तिक चिंतन है। इसे आलोचनात्मक चिंतन कहना अधिक संगत है। आलोचक रचना के प्रभाव को समग्रता में पकड़ते हुए उसके रचनात्मक अनुभवों के संबंध में विचार करता है। आचार्य शुक्ल ने सूर के रचनात्मक अनुभवों को ज़्यादा गहराई से पकड़ा है। किंतु उसके साथ उनका चिंतन नहीं बल्कि सिद्धांत उभरता है जो पूर्वग्रहमुक्त नहीं है। चिंतन रचना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मक अनुभवों के समानांतर चलेगा। कुछ उसी तरह के जीवन-संदर्भों में रख कर आलोचक नवीन दिशा की संभावनाओं को देख सकता है।

इस चिंतन-प्रक्रिया का मतलब यह नहीं है कि आलोचक यह कहने लगे कि **पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।** आज का संकट-बोध उसे दो तरीक़ों से हो सकता है—समकालीन जीवन-व्यापी अनुभवों से तथा कुछ विचारकों के चिंतन से। पहला तरीक़ा तो रचनात्मक साहित्यकार और आलोचक, दोनों के लिए समान रूप से अनिवार्य है। दूसरे की उपयोगिता रचयिता के लिए उतनी नहीं है जितनी आलोचक के लिए है। आज के अंतर्बाह्य संकट को समझने के लिए फ़ायडीय, नव्य और मार्क्सवादी दर्शन का अध्ययन निहायत ज़रूरी है। फ़ायड काम संबंधी उलझनों की छानबीन करता है तो मार्क्स पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की। ये दोनों आज के मनुष्य की अहम समस्याएँ हैं।

समकालीन साहित्य में अभिव्यक्त बेगानेपन और अकेलेपन की समस्या को ही लें। इसे पश्चिमी बता कर कतराना शुतुरमुर्ग की तरह रेतीले अंधड़ों से बचने के लिए बालू में सिर गाड़ देना है। यह आज की सार्वत्रिक वास्तविकता है। आज मनुष्य अपने परिवार, समाज, देश में अपने को बेचारा महसूस करने लगा है, असहाय प्रतीत होने लगा है। नीत्शे ने घोषणा की थी कि ईश्वर मर गया। उसकी इस घोषणा से लोग चौंके और ख़ूब चौंके। पर इस घोषणा पर कोई नहीं चौंकता कि मनुष्य मर गया है। ईश्वर के मरने की घोषणा के समय मनुष्य ज़िंदा था। इसलिए उसका चौंकना स्वाभाविक था। लेकिन इस घोषणा के समय वह मर गया है और शव में बोलने की शक्ति नहीं होती। आज मनुष्य को पुनर्जन्म लेना है। आज के बुद्धिजीवी के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है। लेकिन उसे पुनर्जन्म देने के पहले उसकी मृत्यु के कारणों की तलाश करनी पड़ेगी। आज की पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने मनुष्य को यंत्रगतिक पुर्ज़ा बना दिया है; वह काग़ज़ का नोट या ताँबे-चाँदी का सिक्का हो गया है। इसके विस्तृत स्पष्टीकरण के लिए अलग लेख की आवश्यकता है। यहाँ ध्यान देने की इतनी ही बात है कि आलोचक के लिए इन परिस्थितियों का कामचलाऊ, पर क्रमबद्ध अध्ययन ज़रूरी है।

नये साहित्य की अभिव्यक्ति बदल गयी है; भाषा बदल गयी है। यह परिवर्तन इस बात का द्योतक है कि उसे कुछ अलग कहना है। कहानियों और कविता की भाषा आज के युग की है। यह पहले की अपेक्षा ज़्यादा जटिल जीवन और गंभीर संवेदनाओं की व्यंजना करती है। यहीं यह भी देख लेना चाहिए कि ऊपर जिस बेगानेपन को सार्वदेशीय कहा गया है, वह क्या देशी विशेषताओं से सर्वथा रिक्त होगी। भाषा-भेद से उसमें भेद होना आवश्यक है। यदि साहित्य की जड़ें अपने देश की मिट्टी में नहीं लगेंगी तो उसमें अपनी गंध नहीं होगी। आज प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के परिवेश की उपज है। कोई भी महत्वपूर्ण साहित्य अपने खाद-पानी में जीवित रहेगा। आज तथा कथित क्रुद्ध पीढ़ी या भूखी पीढ़ी के साहित्यकार सुंदर वन में बसने का सपना देखने लगे हैं क्योंकि एलेन गिंसबर्ग ने गुफा-गह्वरों में रहने का स्थान बनाया है। वे उसके 'हाउल' की वह तेजस्विता नहीं देखेंगे जिसमें उसने ह्विटमैन के अमरीका को नंगा कर दिया है। आलोचक का कर्तव्य है नक़ल और असल को बेनक़ाब करे और भोगी हुई तथा ओढ़ी हुई ज़िंदगी को अलगा दे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा वह कथ्य के आधार पर उतना नहीं कर सकता है जितना रचयिता के 'टोन', शक्तिमत्ता और प्रभाव डालने के तरीक़े की बुनियाद पर कर सकता है। वह चुस्त-चालाक पर अपरिपक्व लोगों से मिलेगा, वह तकनीकी माहिरों की ढाँचेदार खोखली पुस्तकों से गुज़रेगा। पर श्रेष्ठ कृति वही होगी जो अपने कथ्य, 'टोन', शक्तिमत्ता और प्रभाव-स्थिति में प्रामाणिक होगी। प्रामाणिकता का संबंध परिवेशगत भोगी हुई ज़िंदगी से है।

प्रामाणिकता के संदर्भ में प्रतिबद्धता का प्रश्न उठता है। प्रतिबद्धता से मतलब किसी प्रकार के बने-बनाये सिद्धांतों के प्रति प्रतिबद्धता से नहीं है। प्रतिबद्धता लेखक की होती है—अपने ही प्रति, अपने अन्वेषण के प्रति। किंतु इसमें पाठक का साझीदार होना ज़रूरी है। आलोचक के लिए प्रतिबद्धता बाधक ही बनेगी, क्योंकि वह एक प्रकार के साहित्य को तरजीह देगा, दूसरे प्रकार के साहित्य को नहीं। उसका मुक्त चिंतन भी इससे अप्रभावित नहीं रह सकेगा।

सच पूछा जाय तो आलोचक वही है जो समकालीन साहित्य में गहरी संसक्ति रखता हो। यह संसक्ति उसके लिए पहली और अनिवार्य शर्त है। जो लोग आलोचना लिखने के लिए समकालीन साहित्य पढ़ते हैं, वे संसक्त नहीं हैं। रचनात्मक साहित्यकार के लिए भी यह ज़रूरी है, पर आलोचक के लिए ज़्यादा ज़रूरी है। समकालीन साहित्य उसका उपजीव्य है। उसी के आधार पर वह अपने 'विज़न' का पुनर्निर्माण करता है, प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता की खोज करता है। वह उसी में साँस लेता है, उसे दैनंदिन का अनिवार्य अंग बनाता है। समकालीन आंदोलनों में वह अपने ढंग से शामिल होता है, बहस के लिए मंच तैयार करता है, वैचारिक मतभेदों का स्वागत करता है, लेकिन दलबंदी में शरीक नहीं होता। दलबंदी के कारण वह आलोचक का पेशा छोड़ कर वक़ालत करने लगता है और झूठी कृतियों पर सही का निशान लगाता है। नये लेखकों को, उनकी उपलब्धियों को देखते हुए, मान्यता प्रदान करना, नये लेखन को दिशा देना भी उसके प्राथमिक कर्तव्यों में है। अन्यथा उसकी अपनी सत्ता का कोई अर्थ नहीं होगा। इसके लिए आवश्यक है कि वह आलोचक ही बना रहे, वक़ील बनने की कोशिश न करे। उसे पेशेवर आलोचक भी नहीं बनना होगा, केवल आलोचक होना होगा, क्योंकि आज के आलोचक को पेशेवर और शौक़िया आलोचक के बीच की खाई भी पाटनी है।

—बेनीराम बाग़, कमच्छा,
वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोष्ठी-प्रसंग

'विवेचना' : वार्षिकोत्सव

'विवेचना' के तीसरे वार्षिकोत्सव के अवसर पर द्विदिवसीय गोष्ठी आयोजित की गयी, जिसमें पहली शाम, २४ अक्तूबर, '६६ को डॉ० बच्चन सिंह (वाराणसी) ने 'समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती' विषय पर निबंध-पाठ किया। गोष्ठी की अध्यक्षता की डॉ० रामविलास शर्मा (आगरा) ने। चूँकि वार्षिकोत्सव था, इस कारण सूफ़ियाना तास-झाम और औपचारिकता थी। आरंभ में, 'विवेचना' के एक संयोजक वाचस्पति पाठक ने डॉ० रामविलास शर्मा और डॉ० बच्चन सिंह का स्वागत किया और उसके बाद संयोजिका उमा राव ने वार्षिक प्रतिवेदन पढ़ कर सुनाया।

निबंध-पाठ के बाद क्रम से डॉ० रघुवंश, डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल, डॉ० जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, सतीशचंद्र देव, रवींद्रनाथ त्यागी, डॉ० बच्चन सिंह और अध्यक्ष डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये।

डॉ० **रघुवंश** : निबंध में डॉ० बच्चन सिंह ने बहस को गंभीर स्तर से उठाया है। मैं इस बहस को अपने ढंग से बढ़ाना चाहूँगा। हिंदी के पिछले आलोचकों के पास परंपरा से प्राप्त एक दृष्टि थी और साथ ही उस परंपरागत दृष्टि के साथ उन्होंने एक अपनी भी दृष्टि विकसित की थी। उनकी अपनी जो दृष्टि थी वह अधिकांशतः पिछले साहित्य के अध्ययन से विकसित हुई थी। उदाहरण के लिए, आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने एक 'लोक-मंगल' की दृष्टि विकसित की थी और यह दृष्टि उन्हें मिली थी 'रामचरितमानस' के अध्ययन से। किंतु पिछली आलोचना पर यदि हम एक व्यापक दृष्टि डालें तो स्पष्ट होगा कि हमारे आलोचकों के पास भारतीय अथवा पश्चिमी आलोचना के सुनिश्चित सिद्धांत थे और उन्हीं के आधार पर वे कृतियों की आलोचना करते थे। समसामयिक आलोचना में उन्हीं सुनिश्चित सिद्धांतों के कारण कठिनाई पड़ती है। वस्तुतः नये साहित्य के संदर्भ में पीठिका बदल जाती है। जिस रूप में आज आलोचना होती है, उसकी भूमिका नयी है। आलोचक स्वतः अन्वेषक की भाँति कृति में अपने आपको ढूंढ़ता है। यह सत्य है कि आलोचकों के अनुभवों में वैविध्य है, विचार करने के लिए उनके पास कई रास्ते हैं। सन १९४२-४४ के आस-पास इस पर खूब मंथन हुआ। और आज उसकी परिणति यह है कि विविधता होने के बावजूद प्रायः सभी आलोचक एक समान स्तर पर आ गये हैं। तात्पर्य यह कि व्याख्या में अंतर भले ही रहता है, किंतु साहित्य को, यथार्थ से, समाज से, समग्र जीवन से संपृक्त हो कर देखने की एक मूल दृष्टि है। इससे भी बढ़ कर रचनात्मक प्रक्रिया पर समान रूप से आलोचकों की दृष्टि गयी है। रचनात्मक संयोजन को घटित होते हुए अनुभव करना प्रत्येक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचक का प्रमुख कार्य हो गया है। एक दूसरी चर्चा उठती है कि कला में निहित सौंदर्यवादी दृष्टि की ओर हमारी समीक्षा ने विकास नहीं किया है। यहीं पर प्रतिबद्धता की भी बात उठायी जाती है। यथार्थ के प्रति आज के आलोचक में जो गहरा लगाव है, समूचे युग के प्रति जो संसक्ति है, उससे स्पष्ट है कि वस्तुतः सारे जीवन के प्रति अब प्रतिबद्धता है। आज की आलोचना में युग के व्यापक व्यापार के प्रति गहरी संसक्ति है। यह संसक्ति, यह गहरा लगाव, इसमें संदेह नहीं कि रचना को, भाषा के कलात्मक ढाँचे को व्याख्यायित करने में समर्थ हुआ है। अतः सौंदर्यवादी दृष्टि की ओर हमारी आलोचना अग्रसर है। आज इसी दृष्टि को रख कर एक क्लासिक को पुनः समीक्षित किया जा सकता है। अतः कलात्मक ढाँचा और व्यापक जीवन-संचेतना, समसामयिक आलोचना की विशेषता है और साथ ही वही उपलब्धि भी है। आज मतवाद को सामने रख कर आलोचना करना कोई अर्थ नहीं रखता। रचना और रचना के भाषिक विधान और शब्द-संगोपन के साथ व्यापक संवेदना की गहरी पकड़ आज की आलोचना के प्रतिमान हैं।

डॉ० विपिनकुमार अग्रवाल : निमंत्रण-पत्र पर छपे निबंध के शीर्षक को देख कर पहले कुछ उलझन सी हुई। शीर्षक को दो ढंग से पढ़ने की चेष्टा की : 'समकालीन साहित्य, और आलोचना' तथा 'समकालीन साहित्य और आलोचना'। पहले शीर्षक से यह अर्थ निकला कि समकालीन साहित्य एक अलग चीज़ है और आलोचना अलग। दूसरे से अर्थ निकला कि साहित्य और आलोचना एक साथ हैं। [इस बीच डॉ० बच्चन सिंह ने संशोधित शीर्षक सूचित किया : 'समकालीन साहित्यः आलोचना को चुनौती] निबंधकार महोदय को धन्यवाद देते हुए डॉ० विपिन अग्रवाल ने कहा कि इससे स्थिति साफ़ हो जाती है और अब शीर्षक में प्रयुक्त दोनों शब्दों (साहित्य और आलोचना) को परिभाषित कर के आगे बढ़ना अच्छा होगा। अच्छी स्थिति यह होगी कि इन शब्दों की मनपसंद परिभाषा दी जाय, क्योंकि अपने को मालामाल स्थिति में रखना अच्छा रहेगा। अक्सर यह कहा जाता है कि महत्वपूर्ण रचना वह है जो समस्त पूर्वकालीन साहित्य की आलोचना कर सके। इसका अर्थ यह हुआ कि हर कवि या साहित्यिक, कवि या साहित्यिक होने के साथ आलोचक भी है। दूसरे, यह भी कहा जाता है कि आज की रचना अपने समस्त पूर्वकालीन साहित्य से आगे है। एक बिल्कुल अलग स्थिति यह भी है कि जिन प्रश्नों से आज का रचनाकार जूझ रहा है वे पहले नहीं थे, इसलिए वह नितांत भिन्न है। इन स्थितियों को पुनः रखा जाय तो दो बात निकलती है कि एक नयी रचना हुई तो आलोचना भी होगी। दूसरी यह कि एक आलोचना वह हुई जिसके द्वारा आलोचकों की दुनियाँ और साहित्यकारों की दुनियाँ अलग-अलग हो जाती है। इस प्रकार पहली बात तो यह कि आज के साहित्यकार के सामने पूर्वकालीन साहित्य की आलोचना करना पहला काम है। इसके लिए वह पूर्वकालीन साहित्य से संबंध स्थापित करता है और समसामयिक साहित्य तक आ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी गाड़ी **समसामयिक** तक आते-आते रुक जाती है। एक दूसरा ढंग यह है कि समकालीन साहित्य से शुरू कर के पूर्वकालीन साहित्य की ओर जाया जाय। इस पर अभी बात हो चुकी है। किंतु इसी में एक स्थिति छूट जाती है—वह है भिन्नता वाला साहित्य। आलोचक इस भिन्नता को देख कर हक्का-बक्का है। वह हक्का-बक्का इस कारण है कि इतिहास ने उसकी दृष्टि को ऐंठा दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंतु एक दूसरी भी दृष्टि हो सकती है। वह है इस 'भिन्नता' को ले कर परेशानी की दृष्टि। इसे हम भविष्य के प्रति ऐंठी दृष्टि मान कर चल सकते हैं। इस परेशानी को स्वीकार करना कठिन होता है जब कि वास्तविकता यह है कि इस परेशानीभरी दृष्टि को ले कर चलना ही सही तरीक़ा है।

डॉ० जगदीश गुप्त : अपनी बात डॉक्टर बच्चन सिंह द्वारा निबंध में लिखित एक वाक्य को ले कर कहूँगा। उन्होंने अपने निबंध में 'मनुष्य' को एक तरह से काशी के मणिकर्णिका घाट तक पहुँचा दिया है। उन्होंने लिखा है : **मनुष्य मर गया है**। वस्तुतः इस निराशा की भूमिका को ले कर न तो आज का साहित्य है और न ही आलोचना। मैं समझता हूँ कि नये मूल्यों के उदय में तनाव है, न कि निर्भीकता। सच बात यही है कि पूरे हिंदी साहित्य में ही कभी भी निर्जीवता नहीं रही। जहाँ तक आलोचना का संबंध है, वह पहले की अपेक्षा अधिक समर्थ है। आज की आलोचना भी एक सर्जनात्मक प्रक्रिया है। स्वर्गीय नलिनविलोचन शर्मा ने आलोचना को **कला का शेषांश** माना था। उनके मतानुसार आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी आलोचना में सर्जनशीलता अथवा आंतरिक संगठन का पूरे ढंग से आविर्भाव नहीं हो सका है। जो यह कहते हैं कि आलोचना, साहित्य की परोपजीवी है, वे वास्तव में वर्तमान आलोचना के सर्जनशील तत्व से अनभिज्ञ हैं। यही कारण है कि आधुनिक साहित्य को समझ कर आलोचना नहीं हुई और फलस्वरूप बाध्य हो कर इस समय के रचनाकारों को दुहरी लड़ाई लड़नी पड़ी है। एक ओर उन्होंने रचना-धर्म को निबाहा है तो दूसरी ओर नये प्रकार की अर्थात सर्जन-प्रक्रियायुक्त आलोचना करनी पड़ी है। इसी प्रसंग में स्वर्गीय डॉक्टर देवीशंकर अवस्थी की याद आ रही है। उन्होंने कहा है कि **समकालीन बोध के साथ जो आलोचना संपृक्त नहीं है, वह आलोचना नहीं है**। अतः निबंधकार डॉक्टर बच्चन सिंह से इस बात में मेरी पूरी सहमति है कि आलोचना के लिए आज एक चुनौती है। मूल्यांकन के लिए आलोचना ऐसे प्रतिमान देती है जिसके द्वारा पूर्व के और वर्तमान के, दोनों समय के साहित्य की आलोचना की जा सकती है। यही आज की आलोचना की दुहरी प्रक्रिया है। इससे भी गहरी समस्या नये साहित्य की आलोचना में 'व्यक्तित्व' की खोज की है। 'व्यक्तित्व' स्वयं क्या है, उसकी सामाजिक सार्थकता क्या है। व्यक्तित्व के वैशिष्टच का अन्वेषण और उसका मूल्यांकन एक अत्यंत दायित्वपूर्ण कार्य है। 'व्यक्तित्व' से तात्पर्य किसी व्यक्ति से नहीं, बल्कि रचना के व्यक्तित्व और उसमें निहित वैशिष्टच से है। एक बात और साहित्य अन्य कलाओं से अलग नहीं है। वह अन्य कलाओं के साथ विवेचनीय है। इसके लिए चाहिए एक व्यापक सौंदर्य-दृष्टि। शुक्ल जी जैसे नीतिवादी आलोचक ने भी साहित्य का आधार सौंदर्यमूलक ही माना था। इन सारी बातों को ले कर जब हम विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि हिंदी में अभी आलोचना नहीं हुई है, समानता अवश्य है।

विजयदेवनारायण साही : जब कोई लेख पढ़ा जाता है तब सहसा सभी बातें ग्रहण नहीं हो पातीं, खास तौर पर जब लेख विश्लेषणात्मक हो। अतः लेख सुनते समय जहाँ-जहाँ मुझे लगा कि यहाँ-यहाँ विचार होना चाहिए, उन्हीं बातों को आपके सामने रखूँगा। यदि लगे कि मैं ग़लत कह रहा हूँ तो कृपया क्षमा कर देंगे। उदाहरण के लिए लेख में शायद कुछ इस तरह की धारणा रखी गयी है कि आज की आलोचना के प्रतिमान समकालीन साहित्य से निर्मित होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए तथा पिछला जो कुछ लिखा गया है वह नयी दृष्टि को उभारने में असमर्थ है। मेरे विचार से, जब समकालीन साहित्य से आलोचना के प्रतिमान बनाने की बात उठायी जाती है, तब इसे मैं मानूँगा कि आज के आलोचक को 'डीमारलाइज्ड' होने के लिए कहा जा रहा है। आज के आलोचक से एक सवाल है कि प्रतिमान बनाने के लिए उसके पास 'डिफ़ेंस' क्या है, 'अपालोजी' क्या है। फ़्रांस में भी पुरानी आलोचना और नयी आलोचना की बहस खड़ी हुई है। वहाँ भी दृष्टियों की टकराहट हुई है, किंतु अभी तक कोई यह कहने का साहस नहीं कर सका है कि सामयिक साहित्य की आलोचना के प्रतिमान वास्तविक प्रतिमान हैं। इसके अलावा यह भी मेरा कहना है कि क्या मात्र साहित्य को ले कर ही आलोचना के प्रतिमान बनते हैं? जब हम समसामयिक साहित्य से आलोचना के प्रतिमान बनाने की बात करते हैं, तब क्या हमें पता है कि दंडी, भामह से ले कर हिंदी के मान्य आलोचकों ने अपनी दृष्टि की टकराहट उस प्रतिष्ठित साहित्य से की है जो मान्य है और वहीं से उन्होंने अपने प्रतिमान बनाये हैं; साथ ही उन प्रतिमानों के निर्माण में सौंदर्य-शास्त्र और दर्शन का विशेष हाथ रहा है। अभी हक्का-बक्का हो जाने की बात उठी है। मैं पूछता हूँ कि शिवचंद्र शर्मा की कविता जो शायद सबको हक्का-बक्का कर दे, तो क्या उससे प्रतिमान बनाये जा सकेंगे? अभी संसक्ति की बात भी कही गयी है। नयी कहानी को ले कर संसक्ति वाले आलोचकों ने, हम सब जानते हैं, बहुत कुछ लिखा है। लेकिन आप सब जानते हैं कि वे सब आलोचनाएँ बकवास सिद्ध हुई हैं। सचाई यह है कि आलोचक मज़ाक़ नहीं कर सकता। हिंदी में जो भी आलोचक हैं, क्या उनके लिए ज़रूरी है कि जो कभी कुछ लिखा गया है उसी पर आधारित कर के अपने प्रतिमान बनायें? वस्तुतः यह स्वाभाविक बात नहीं है। प्रथम श्रेणी की आलोचना जीवन से, संस्कृति और सभ्यता के उत्थान-पतन से निःसृत होती है। यह कहना कि व्यक्तित्व का संकट केवल आज के साहित्य में है, ग़लत है। हमें वेद से ले कर आज तक उस संकट को, उन प्रश्नों को ढूँढ़ना होगा, तब जा कर हमें प्रतिमान मिल सकेंगे। आज सब लोग जानते हैं कि हर पचीस बरस बाद पुनः-पुनः एक ही सवाल उठाया जाता है कि कविता क्या है और क्यों है? यह सवाल प्रत्येक आलोचक के लिए समसामयिक होता है और उसका उत्तर देने में पिछला सब कुछ उसे बार-बार देखना पड़ता है। अपनी दृष्टि की टकराहट पिछली दृष्टियों से करनी पड़ती है। आलोचना के प्रतिमान तभी निकलते हैं।

लक्ष्मीकांत वर्मा : आलोचना के सिद्धांत या प्रतिमान, आप जो चाहें बनायें, किंतु जो कुछ भी आज लिखा जा रहा है, वह चाहे परंपरा से भिन्न क्यों न हो, उस भिन्नता को हमें स्वीकार करना पड़ेगा। हमें हक्का-बक्का वाली स्थिति को भी स्वीकार करना पड़ेगा। मूल समस्या है कि अगर आज की नयी कविता या नयी कहानी के नये प्रतिमान बनते हैं तो हमारे लिए ज़रूरी होगा कि हम उसी के द्वारा पुराने साहित्य का मूल्यांकन करें। अपने युग में बैठ कर अपने से पुराने को देखना एक कर्तव्य है और रचनात्मक ढंग भी है। यह कार्य प्रगतिवादी आलोचकों ने भी किया। उन्होंने पुराने साहित्य में मार्क्सवादी विचार ढूँढ़ने की कोशिश की। उनकी दृष्टि का यह पूर्वग्रह या एकांगीपन प्रतिमान नहीं बना सका। वैसे आलोचना में कई पक्ष होते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन कभी-कभी मनोवैज्ञानिक दृष्टि ही प्रधान हो जाती है। लेकिन सचाई यह है कि आलोचना में मूल दृष्टि 'सौंदर्य' की होती है।

सतीशचंद्र देव : जितना कुछ मेरी समझ में आया है, उसी के आधार पर मैं कहना चाहूँगा कि सन १८८० ई० में हिंदी साहित्य का विकास खड़ी बोली के माध्यम से शुरू हुआ था। भारतेंदु हरिश्चंद्र पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिंदी खड़ी बोली को प्रांजल रूप देने के लिए बंगला भाषा से बहुत कुछ लिया। हिंदी से मेरा उसी समय से परिचय है। वस्तुतः आलोचना में विचार-दर्शन, सौंदर्य और परवर्ती कवियों की कृतियाँ—इन सब पर विचार होता है। कथ्य और भाषा पर यूरोप में बहुत गंभीरतापूर्वक विचार हुआ है और उनमें सौंदर्यात्मक तत्व देखने की चेष्टा की गयी है। इसलिए आलोचना पर विचार करते हुए हमें अपनी भाषा को भी पहले देख लेना चाहिए। हिंदी भाषा अभी बहुत पुरानी नहीं है, इसलिए आप यदि तुलसी, सूर को नहीं लेंगे तो जायेंगे कहाँ ! एक बात जो विशेष रूप से कहनी है, वह यह कि आज हिंदी को संस्कृतमय किया जा रहा है। यह प्रयत्न भाषा को बिगाड़ने का है। अतः इस प्रवृत्ति से हमें बचना है। दूसरी बात जो कहनी है कि हिंदी के साथ यूरोप के संपर्क साहित्य का गहरा अध्ययन होना चाहिए। बिना इसके हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। आलोचना का विकास भ्रमपूर्ण मूल्यों और अधकचरी सामग्री के द्वारा नहीं हो सकता। इससे साहित्य में भ्रम ही फैलता है। इसलिए आलोचक का दायित्व बहुत बड़ा है।

रवींद्रनाथ त्यागी : हिंदी में आलोचना का नितांत अभाव है। आज की जो आलोचना है, वह अयथार्थवादी और पक्षधर है। हिंदी में हर वर्ष प्रायः चार हज़ार पुस्तकें निकलती हैं, जिनमें से कम से कम दो सौ या तीन सौ पुस्तकें पढ़ने योग्य होती हैं। किंतु गुटबंद आलोचक इस पर ध्यान नहीं देते। वे केवल अपने दल के लोगों की कृतियों की ही चर्चा करते हैं। इस प्रवृत्ति से आलोचना का विकास नहीं होगा।

डॉ० बच्चन सिंह : श्री साही ने कहा है कि आज का आलोचक समकालीन साहित्य के सामने 'डीमारलाइज़्ड' है। शायद उनका मतलब है कि आज के आलोचक को चाहिए कि वह आज के साहित्य के आधार पर आलोचना के प्रतिमान विकसित न करने के लिए वेद से ले कर आज तक की स्थितियों को ध्यान में रख कर प्रतिमान बनाये। किंतु, यदि पुराने प्रतिमानों को वर्तमान पर लागू नहीं किया जा सकता, तब प्रश्न उठेगा कि नये प्रतिमानों को पुराने पर क्यों लागू किया जाय। यह गंभीर प्रश्न है। मेरे विचार से आलोचना के जो भी प्रतिमान विकसित होंगे, उनका आधार समकालीन साहित्य ही होगा। अभी कहा गया है कि शिवचंद्र शर्मा पर कोई आलोचक क्यों नहीं लिखता। वास्तव में प्रत्येक रचना आलोचक को चुनौती नहीं देती। साही जी ने नयी कहानी की बात की, किंतु नयी कविता पर नहीं बोले। इलियट का दृष्टिकोण समकालीनता का ही था, जिसके द्वारा उसने पुरानों की आलोचना की। यह कहना कि आलोचक परोपजीवी होता है, ग़लत है। आलोचनात्मक कृति स्वतः रचनात्मक होती है। आलोचक, व्याख्या नहीं करता, बल्कि सहचिंतन करता है।

डॉ० रामविलास शर्मा (अध्यक्ष) : प्रोफ़ेसर देव के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके सारगर्भित भाषण से बड़ी प्रसन्नता हुई है। उन्होंने हिंदी पर बंगाल के प्रभाव की बात कही है। ग़ौर से देखा जाय तो मालूम होगा कि भारतेंदु के समय हिंदी का शैशव-काल या और उस समय की हिंदी बहुत सरल थी। आगरा से ले कर पटना तक सरल हिंदी का प्रचार था। वस्तुतः हमारे अंग्रेज़ी में सोचने का परिणाम है कि हिंदी भाषा धीरे-धीरे जटिल होती चली गयी। गद्य को विकसित होने में समय लगता है। भारतेंदु के समय में काव्य भाषा ब्रज ही थी, लेकिन ब्रज-भाषा का सहारा ले कर भी उन्होंने रीति की परंपरा को तोड़ा। हिंदी की आलोचना ने अपने कर्तव्य को पूरा किया है, इस दावे को मैं रखना चाहूँगा। आचार्य द्विवेदी ने भाषा को संस्कार देने का जबर्दस्त कार्य किया। उन्होंने हिंदी काव्य में खड़ी बोली को क़ायम किया। उन पर तत्सम संस्कृत शब्दों के प्रयोग का आरोप लगाया जाता है, तो उन्हीं के युग में श्री बालमुकुंद गुप्त हिंदी की सरल शैली को निखार रहे थे। उर्दू भाषा के साथ भी यही हुआ। जब वह गाँव की खड़ी बोली से दूर हो कर अरबी-फ़ारसी की ओर बढ़ने लगी, तब वह जटिल हो गयी। किंतु आचार्य द्विवेदी ने जो कार्य किया, वह ठोस कार्य था। बोल-चाल की भाषा हम लिख सकते हैं या उर्दू की शब्दावली को भी ले सकते हैं, किंतु जब पारिभाषिक शब्दावली देनी पड़ती है, तब भारतीय भाषा का ही सहारा लेना पड़ता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि द्विवेदी जी ने भाषा को संस्कार दिया। आगे चल कर छायावादी कवियों के सामने समस्याएँ थीं। रीतिवादी उनके प्रबल विरोधी थे। 'मतवाला' में निराला जी ने पुराने साहित्य के मूल्यांकन और भाषा आदि सब पर लिखा है और समाधान भी दिया है। 'निराला' ने एक ओर छायावादी काव्य को प्रतिष्ठित किया और अपने निबंधों के माध्यम से गद्य भाषा को भी विकसित किया। साहित्य के हर अंग पर सोच-विचार करने का और समाधान का रास्ता दिया। प्रतिमान ले कर साहित्य की ओर नहीं जाना चाहिए। लोग कहते हैं कि मैं पूर्वग्रही हूँ, चौखटा बना कर चलता हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि आज प्रतिमान पहले बना कर चलते हैं या बाद में बनाते हैं। मेरे कुछ मित्रों का कहना है कि आलोचना की आवश्यकता ही नहीं है, वह रचनात्मक साहित्य के नीचे की चीज़ है। ऐसी बात नहीं है। आलोचना का अपने आपमें महत्व है। वह ज्ञानार्जन की एक पद्धति है। आजकल प्रायः हर रचनाकार चिंतक और आलोचक भी बनता है। इसमें घबराने की बात नहीं है। विचारों के संघर्ष के बिना आप आगे नहीं बढ़ सकते। आलोचना में ठोस अध्ययन के बिना प्रतिमान नहीं बनाये जा सकते। इस पर यूरोप की आलोचना का बहुत प्रभाव है। यूरोप के हर चिंतक के चिंतन में असंगतियाँ हैं, जब कि यहाँ भारत में भरत से ले कर सभी आचार्यों में असंगतियाँ नहीं मिलतीं। यहाँ भाव-बोध का मूल अंतर है। हमें इस सत्य को भी ध्यान में रखना चाहिए।

अंत में 'विवेचना' के तीसरे संयोजक सुरेंद्रपाल सिंह ने उपस्थित श्रोताओं, वक्ताओं और अतिथियों को धन्यवाद दिया, आभार प्रकट किया और गोष्ठी समाप्त हुई।

—विवेचक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयी दिल्ली में आयोजित साहित्य-परिसंवाद

मलयालम के महाकवि **शंकर कुरुप** का सम्मान नयी दिल्ली ने अपूर्व रीति से किया। एक भारतीय कवि का सम्मान जिस रीति और उत्साह से होना चाहिए था, उसी प्रकार हुआ। शंकर को एक लाख रुपये का **ज्ञानपीठ पुरस्कार** प्रदान करते हुए डॉ० **संपूर्णानंद** ने ठीक ही कहा था कि जिसमें भारतीय हृतंत्री को झंकृत करने का सामर्थ्य न हो, वह भारतीय काव्य नहीं कहा जा सकता। भारत को जो व्यक्ति अपना देश नहीं मानता, सर्वप्रथम अपने को भारतीय नहीं कहता, वह भारतीय साहित्य नहीं रच सकता। भारतीय साहित्य का प्रणयन राम-कृष्ण की संतान होने का अभिमान करने वाला साहित्यिक ही कर सकता है। इससे शून्य भावना का व्यक्ति भारतीय साहित्य का निर्माण नहीं कर सकता। भारत के प्रति अभिमान न होने के ही कारण शंकर-सम्मान सदृश राष्ट्रीय समारोह में अंग्रेज़ी सुनायी देती है और आयोजक अंग्रेज़ी पत्रों में अपनी महिमा और अपना गौरव छपाने के लिए लालायित रहते हैं। अंग्रेज़ी के प्रति दासता की भावना बढ़ती ही जा रही है।

पंजाब नेशनल बैंक में आयोजित साहित्यिक परिसंवाद का विचार-विषय था : **क्या आधुनिक भारतीय साहित्य का विकास हुआ है, निर्माण हुआ है और यदि नहीं तो क्यों नहीं ?** इस परिसंवाद में भाग लेने वाले वक्ताओं में '**माध्यम**' के संपादक **बालकृष्ण राव** के यह ज़ोर दे कर कहने से कि भारत एक राष्ट्र है, केवल एक भौगोलिक अभिव्यक्ति नहीं है, और राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण होना चाहिए; परिसंवाद के प्रारंभक वक्ता श्री नीहाररंजन राय प्रक्षुब्ध हो उठे और जवाब देने के लिए मंच पर आये। आपने स्पष्ट कहा कि भारत को वह एक राष्ट्र नहीं मानते। परंतु उन्होंने जो कारण दिया, वह युक्तिसंगत नहीं था। आपने बताया कि सिंधी साहित्य तस्कर-व्यापार द्वारा पश्चिमी पाकिस्तान में जाता है, और बंगला साहित्य पूर्वी बंगाल में बिकता है। यह युक्ति भारत-विभाजन के विरोध में दी जा सकती है, भारत राष्ट्र के अभाव को सूचित करने के लिए नहीं। क्या एक देश से दूसरे देश में माल के चोरी-छुपे जाने से ही किसी राष्ट्र के अस्तित्व से इन्कार किया जा सकता है। यह मानते कला-साहित्यिक भारतीय साहित्य के निर्माण के विषय में क्या कुछ कह सकता है ? जिसको विदेशी भाषा में बोलने भर का गर्व है, क्या वह भारतीय साहित्य के निर्माण की बात सोच सकता है ?

६० साल पहले 'विश्ववृत्त' (मराठी-मासिक) का वह अंक विदेशी सरकार ने ज़ब्त करना उचित समझा था, जिसमें वैदिक ऋषि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने वैदिक राष्ट्र-गीत बताते हुए इन सूक्तियों का उल्लेख किया था : **१. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। २.**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमे मातः निधेहि मा भद्रया सुपुनिष्ठितम्। ३. सा नो भूमि विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। ४. मातरं भूमि धर्मणा धृताम्॥

यदि भारत राष्ट्र की कल्पना ये वाक्य नहीं देते तो एक विदेशी सरकार को 'विश्व-वृत्त' को ज़ब्त करने की आवश्यकता नहीं होती।

यह राष्ट्रगीत है, इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि इन सूक्तों का विनियोग कौशितकी ब्राह्मण ने इन कार्यों में बताया है : **१. ग्राम पत्तनादि रक्षणार्थम्। २. पृथिवीं भूमि कामस्य। ३. पार्थिव्यां महाशांतौ अस्य सूक्तस्य विनियोगः॥**

मुख्यतः इसका विनियोग **ग्राम पत्तनादि रक्षणार्थ** होता है।

बच्चन ने नीहाररंजन के प्रक्षोभ को हँसी में उड़ा दिया, परंतु वह अराष्ट्रीय प्रवृत्ति का सूचक था। बंगाल में आज भारतीय राष्ट्रीयता शून्य स्तर पर पहुँच रही है। एक ने लिखा है, बंगाली उत्तर भारत के लोगों से भिन्न हैं। क्योंकि बंगाल चावल-भोजी है, और उत्तर भारतीय गेहूँ-भोजी है। यह वही मनोवृत्ति है, जिसका परिचय परिसंवाद में नीहाररंजन ने दिया था।

एक सरदार जी भी बोले थे। सरदार **गोपाल सिंह एम० पी०** हैं। आपने असंदिग्ध शब्दों में कहा : 'भारत एक राष्ट्र नहीं है, न कभी था और न होना चाहिए। भारत का एक राष्ट्र होना अभिशाप होगा।' यह बात स्पष्ट हो गयी कि अभारतीय मनोवृत्ति पिछले बीस सालों में बढ़ी है। विभक्त पंजाब का विभाजन और बाँगरू के समान पंजाबी को एक बोली न मानना यही सूचित करता है।

मांडले जेल में जाने और रहने से पहले लोकमान्य तिलक ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'ओरायन' अंग्रेजी में लिखा था। उससे उनको ख्याति भी मिली थी। परंतु 'गीता-रहस्य' लोकमान्य तिलक ने मराठी में लिखा। यही नहीं, मराठी 'गीता-रहस्य' और इसका हिंदी अनुवाद लगभग एक साथ प्रकाशित हुए। अंग्रेजी अनुवाद बहुत बाद में निकला। राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-आंदोलन-संग्राम ने इसके कारण एक नया मोड़ लिया। इससे उसमें एक नया तेज आया। आज भी वह राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित कर रहा है। परिसंवाद में हुए भाषण यह सूचित करते थे कि स्वाधीनोत्तर का भारतीय साहित्यिक आधुनिक होने के फेर में अभारतीय होता जाता है। अन्यथा बच्चन को ज़ोर दे कर यह प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं होगी कि भारत एक राष्ट्र है। परिसंवाद के सभापति **महाकवि शंकर** ने अपने व्यवहार और अपने संक्षिप्त भाषण से सिद्ध किया कि भारत एक राष्ट्र है।

हेम बरुआ का यह तर्क युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता कि भारत मध्य युग-सामंत युग से अभी निकल रहा है। दुनिया के औद्योगिक देशों में छठा स्थान भारत का है, इस पर भी बरुआ भारत को आधुनिक देश नहीं मानते। क्योंकि ७ नवंबर के जुलूस में नागा साधुओं ने भाग लिया था। दिगंबरत्व का भारतीय धर्म में और 'शीतोष्ण' सहने की साधना में क्या स्थान है, यह न जानने वाला ही 'दिगंबर जैन' आचार्य और नागा साधु को घृणा की दृष्टि से देख सकता है। आधुनिक साहित्यिक भारत को नहीं जानता, इसका प्रमाण एक यही है। जब भारतीय लेखक भारत को ही नहीं जानता, तब वह भारतीय राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण में कैसे योग दे सकता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वात्स्यायन की इस बात में भारी सचाई है कि राष्ट्रीय साहित्य पर्याप्त परिणाम में उत्पन्न नहीं हुआ। भारत-विभाजन भारतीय राष्ट्रवाद की पराजय है। साहित्य विजय-रथ के पीछे चलता है, पराजय के नहीं। आदि कवि वाल्मीकि का रामायण आज भी पढ़ा जाता है। क्योंकि इसमें उस पुरुषोत्तम राम की कथा है, जिसको आदि कवि ने हिमालय के समान महान (हिमवान इव) और समुद्र के समान गंभीर चित्रित किया है। श्रीराम में संपूर्ण भारत आ गया है। भारत की सीमा का उल्लेख कर दिया गया है। रामायण को आज का हिंदेशिया भी अपना राष्ट्रीय महाकाव्य कहता है, और इसमें न्यू गिनी का उल्लेख होने के कारण उसने हॉलैंड से यह भाग बिना लड़े ही पा लिया। डच प्रतिनिधि ने कहा, यदि हिंदेशिया अपने राष्ट्रीय ग्रंथ के न्यू गिनी का उल्लेख दिखा दे और सिद्ध कर दे कि कभी वह उसके एक देश का भाग था; तो डच सरकार उसका दावा मान लेगी और न्यू गिनी खाली कर देगी।

हिंदेशिया के प्रतिनिधि-मंडल ने इस चुनौती को स्वीकार कर के रामायण के किष्किंधा कांड से वह भाग पढ़ कर सुनाया जिसमें सुग्रीव ने सीता की खोज में वानरों को भेजते हुए कहा है: सुमात्रा, जावा जाते हुए उन पहाड़ों पर जाना न भूलो, जिनकी चोटियाँ हिमाच्छादित रहती हैं। हिंदेशिया के प्रतिनिधि-मंडल ने रामायण को अपना राष्ट्रीय ग्रंथ बताते हुए कहा कि ऐसा पर्वत, जहाँ बर्फ़ गिरती है, केवल न्यू गिनी में है, और कहीं नहीं है। रामायण का यह प्रमाण माना गया और आधुनिक हिंदेशिया ने राम-भक्ति का फल पाया। भारत राम-भक्त नहीं रहा था, अतः देश विभक्त हुआ। आधुनिक साहित्यिक भारतीय राष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ करने वाला प्रभावशाली साहित्य उत्पन्न नहीं कर सके हैं : यह मानना होगा। अन्यथा जर्मनों के समान भारत—यथार्थ भारत—का दर्शन करने के लिए देश में उत्कंठा और व्यग्रता उत्पन्न करता। साहित्यिक वर्तमान से अभिभूत न होना चाहिए, बल्कि उसको भविष्य का दर्शन कराना चाहिए। वह वर्तमान का नहीं, भविष्य का निर्माता है। स्वाधीनोत्तर भारत में भारतीय साहित्यिक राष्ट्रीय साहित्य का निर्णय करने की ओर से पराङमुख रहा है। यह सत्य माचवे ने बिना किसी झिझक के स्वीकार लिया है।

यह सत्य इससे ही प्रकट है कि पिछले बीस वर्षों में किसी अहिंदी-भाषी साहित्यिक ने मूलतः हिंदी में नहीं लिखा है। अनुवाद अनेक ने कराये हैं, पर यह जूठन माना जाना चाहिए। राष्ट्र-भक्ति की न्यूनता हिंदी-प्रदेश में कम नहीं है। एक प्रदेश के मुख्य मंत्री ने मंत्री पद छोड़ने के बाद अपनी आत्म-कथा अंग्रेज़ी में लिखी और उसको अमरीका में छपवाया। इसका अनुवाद स्वतः उन्होंने ही कृपा कर बाद में हिंदी में किया। एक मुख्य मंत्री की यह उत्कट भारत-भक्ति तथा भारत के प्रति पूर्णतः समर्थन की मनोवृत्ति को द्योतित नहीं करती। यह इस बात का और एक प्रमाण है कि आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण नहीं हुआ है। इस ओर प्रवृत्ति भी नहीं है।

भारत एक राष्ट्र है, यह काग़ज़ों में ही लिखित है, यह भी सब वक्ताओं ने स्वीकार किया। व्यवहार में भारत कहीं नहीं है। विशाखापत्तनम में इस्पात का पाँचवाँ 'प्लांट' न लगाने के कारण जो दंगा हुआ, और आंध्र विधान सभा के ७० सदस्यों और लोकसभा के चार सदस्यों ने त्याग-पत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया, वह क्या प्रकट करता है? भारतीय मनोवृत्ति के अभाव को ही सूचित करता है। भाषावार प्रांतों का निर्णय भी इसमें सहायक है। हम भारतीय हैं, एकमात्र भारतीय हैं, प्रथमतः और अंतिमतः भारतीय हैं, क्या यह भावना आज के शिक्षित वर्ग में है? यदि नहीं, तो भारतीय राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण कैसे हो सकता है? भारतीयता के अभाव से ग्रस्त ही अंग्रेजी रखने का आग्रह करते हैं और उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी क़ायम रखने का दुराग्रह कर रहे हैं।

यह नहीं कि बीस साल में भारतीय आधुनिक राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता था। दृढ़ संकल्प चाहिए था। इज़राइल का उदाहरण हमारे सामने है। इस वर्ष (१९६६) का स्वीडिश अकादमी का साहित्यिक नोबेल पुरस्कार इज़राइल के ख्यातनामा साहित्यिक सेम्युअल जोसेफ़ एमनन को मिला है। उस हिब्रू भाषा के साहित्य पर मिला है, जो लुप्तप्राय थी। मूल बाइबिल हिब्रू में है। इस पर भी दुनिया भर में फैला ईसाई धर्म हिब्रू को विश्व-भाषा बनाना तो दूर रहा, जीवित भी न रख सका। किंतु इज़राइल राज्य की स्थापना (१९४८) के बाद यहूदी लेखकों ने नवीन हिब्रू साहित्य का निर्माण किया। यह नवीन हिब्रू है। इसकी जड़ बाइबिल में नहीं है। राष्ट्र-भक्ति क्या कर सकती है, इसका यह एक ज्वलंत उदाहरण है। महान यहूदी साहित्यिक सगर्व कहता है कि उसने इज़राइल के भाग्य का, भविष्य का निर्माण हृदयस्पर्शी शक्ति से क़िया है। इसमें महान कार्य में योग देने वाली कवयित्री नेवल्ली साश का नाम भी वह लेता है। कवयित्री नेवल्ली जर्मन-स्वीडिश थीं पहले। राष्ट्र-भक्ति ने उनको इस अल्पावधि में विश्व-कवयित्री बना दिया है।

भारत के साहित्यिक इस ऊँचाई तक पहुँच नहीं सके। वे वेदों का काल बताने के समय मैक्सम्युलर का स्मरण करेंगे। पर भारतीय जनता को इस मत का, इस धारणा का कि महाभारत का युद्ध कलियुग के प्रारंभ और द्वापर के अंत में हुआ था; कभी न करेंगे। कलि-संवत आज भी प्रचलित है। बौद्धिक दासता से ग्रस्त भारतीय साहित्यिक अपनी कृतियों का अंग्रेज़ी अनुवाद देखने को छटपटा रहा है। वह भूल जाता है कि उसके साहित्य में यदि कुछ सत्य होगा, तो दुनिया उसके पास आयगी, उसको दुनिया के पास जाने की ज़रूरत नहीं है। भारतीय प्राचीन लिपि-माला (श्रद्धेय गौरीशंकर हीराचंद ओझा) प्रमाण है। जब यह आत्म-विश्वास नहीं है, भारत-निष्ठा नहीं है, तब भारतीय राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण कैसे हो सकता है? अणु-युग का जवाब देने योग्य साहित्य की रचना कैसे हो सकती है? ऋग्वेद भाष्य भूमिका (ऋषि दयानंद) से प्रभावित तस्यपदे महाराज बड़ौदा की आर्थिक सहायता से विमान बना सकता था। उसका बना विमान २००० फ़ीट ऊँचा उड़ा। उसमें एक विशेषता थी कि आकाश में जब और जहाँ चाहता ठहर सकता था और स्वतः ज़मीन पर उतर सकता था। (मराठी अमृत, जुलाई, १९५९)। साहित्य कितने आगे की सोच सकता है, यह इससे प्रकट है। कवि की परिभाषा की गयी है: **कवयो क्रान्त द्रष्टारः।** भारत के प्रति अनन्य श्रद्धा हो तो वह ऐसे साहित्य का सर्जन कर सकता है, जिसके विषय में कहा जा सके कि **न म्रियते न जीर्यति**। इसके फलस्वरूप महान भारत का, विजयी भारत का, विश्व की अपूर्व महान शक्ति, भारत का उदय होगा। अतः प्रश्न यह है, क्या आज का साहित्यिक भावी भारत के वास्ते जीने और उसके वास्ते अपने को उत्सर्ग करने को तैयार है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयी दिल्ली के परिसंवाद में इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया गया। माध्यम-संपादक का उत्तर आभास मात्र देना था। यही बात अध्यक्ष महाकवि के विषय में कही जा सकती है। ये ही टिमटिमाते आशा दीप हैं? ये प्रज्वलित रहें और आलोक फैलाते रहें, यह एक भारतीय की इच्छा है; आकांक्षा है।

—अवनींद्र कुमार विद्यालंकार,
इतिहास सदन,
एम–११२, कनाट सर्कस,
नयी दिल्ली–१।

नवलेखन की सशक्त मासिकी

लहर

जुलाई १९५७ से
नियमित हिंदी पाठकों के समक्ष कहानियों, कविताओं के
अतिरिक्त
समसामयिक घटनाओं-समस्याओं पर विचार-युक्त सामग्री
प्रस्तुत करती रही है।

●

जिसके विशेषांक
स्थायी महत्व के रहे हैं।

●

एक प्रति : ६० पैसे। वार्षिक: ७-०० रु० मात्र।

संपादक : प्रकाश जैन, मनमोहनी
महात्मा गांधी मार्ग, पो० बॉ० ८२, अजमेर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षाएँ

आलोचक की आस्था

डॉ० नगेंद्र का समीक्षा-ग्रंथ। नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। सन १९६६। मूल्य : ७·००।

'आलोचक की आस्था' डॉ० नगेंद्र के इधर के कतिपय समीक्षात्मक निबंधों, संस्मरणों और अभिभाषणों का संकलन है। प्रारंभ से ही इन्होंने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक, दोनों प्रकार की आलोचना की ओर समान रूप से ध्यान दिया है। प्रस्तुत ग्रंथ में साहित्य के मानदंडों को ले कर जो लेख लिखे गये हैं, उनका स्वर पूर्ववर्ती ग्रंथों से कुछ भिन्न प्रकार का है। इस वार बात कुछ वल दे कर, अधिक स्पष्ट शब्दावली में, निर्णयात्मक ढंग से कही गयी है। तीन लेखों का तो शीर्षक ही 'मेरी साहित्यिक मान्यताएँ' है। शीर्षक की सामान्य ध्वनि यह है कि इन निबंधों में जिन मान्यताओं की चर्चा की गयी है, वे एक प्रकार से लेखक की निजी मान्यताएँ हैं। डॉ० नगेंद्र मानते हैं कि जीवन के मूल्य चिरंतन हैं और कविता का रागात्मक जीवन के साथ अनिवार्य संबंध होता है। अमर साहित्य का अपना महत्व है और इसी प्रकार परंपरा का भी। साहित्य के स्तर की रक्षा करना लेखक का कर्तव्य है। कृति का संबंध कृतिकार के जीवन से होता है। काव्य का प्रयोजन आनंद है। रस एक सार्वभौम और सार्वकालिक काव्य-सिद्धांत है। सत्यं, शिवं, सुंदरम् साहित्य का आदर्श वाक्य होना चाहिए। आलोचना की प्रक्रिया के, इन्होंने तीन अंग बतलाये हैं: (१) प्रभाव-ग्रहण, (२) व्याख्यान-विश्लेषण और (३) मूल्यांकन। साहित्य के अध्येता और विशेषज्ञ, दोनों से यह बात छिपी नहीं है कि ये सारी मान्यताएँ अत्यधिक प्रचलित और परिचित हैं। कुछ तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल, मैथ्यू आर्नल्ड एवं टी० एस० इलियट के विचारों की प्रति-ध्वनि मात्र हैं। अतः 'मेरी मान्यताएँ' से तात्पर्य संस्कृत साहित्य-शास्त्र एवं अंग्रेजी आलोचना-पद्धति से गृहीत उन कुछ मान-मूल्यों से है, जो डॉ० नगेंद्र की रुचि के अनुकूल पड़ती हैं। अतः सिद्धांत-प्रतिपादन के क्षेत्र में अभी तक इनकी कोई मौलिक देन नहीं है। प्रतिष्ठित मूल्यों की व्याख्या करने में पटु होने पर भी स्वतंत्र चिंतन का इनमें अभाव है।

२

इस युग का कोई कवि रस पर दृष्टि रख कर रचना नहीं करता; अतः आधुनिक काव्य के संदर्भ में रस-सिद्धांत की बात उठाना, अपनी बात खोना है। ऐसी दशा में हमारी समझ में यह नहीं आता कि रस-सिद्धांत को डॉ० नगेंद्र ने प्रतिष्ठा का प्रश्न क्यों बना रखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111059

है। प्रस्तुत कृति में 'उर्वशी' पर एक लेख है। बीसवीं शताब्दी का यह सबसे अधिक रसपूर्ण ग्रंथ है। श्री नगेंद्र को एक अवसर मिला था कि इसको आधार बना कर अपने प्रिय सिद्धांत की परीक्षा करते; लेकिन पूरे लेख में वे केवल विचार-तत्व का विश्लेषण करते दिखायी देते हैं। उनकी सारी शक्ति इस समस्या के समाधान में समाप्त हो गयी है कि इसका प्रतिपाद्य विषय क्या है। यदि रस सचमुच सार्वकालिक सिद्धांत है तो अच्छा यह हो कि वे 'प्रिय-प्रवास' से ले कर 'लोकायतन' तक किसी भी एक महाकाव्य की रस-परक व्याख्या कर के देखें और प्रबुद्ध पाठकों के हृदय पर यह प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करें कि उनकी वह आलोचना महत्वपूर्ण और आधुनिक है। और यदि यह सार्वभौम सिद्धांत है, तो इसकी परीक्षा वे टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' पर कर के दिखलायें।

३

आलोचना के जिन विविध पक्षों पर डॉ० नगेंद्र ने काम किया है, उनमें विशेष सफलता इन्हें समीक्षात्मक निबंध लिखने में मिली है। इनके आलोचक के व्यक्तित्व का निर्माण इन निबंधों से ही होता है। इनमें समीक्षा और निबंध दोनों की विशेषताएँ सन्निहित रहती हैं। कृति और कृतिकार की शक्ति और सीमा की व्याख्या इनमें बड़े ही संतुलित ढंग से हुई है। केवल अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों और समस्याओं को ही इनमें विश्लेषण और समाधान के लिए उठाया गया है। शैली इनकी गंभीर, प्रांजल और स्निग्ध है। इनका अपना एक साहित्यिक स्तर है, जो आलोचना के क्षेत्र में ग्रंथ-समीक्षा अथवा कवि-परिचय को गरिमा प्रदान करता है। प्रस्तुत ग्रंथ में 'उर्वशी' पर लिखी समीक्षा तो पठनीय है ही, मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का मूल्यांकन जिस व्यापक धरातल पर किया गया है, वह इनके लेखन-कर्म की प्रौढ़ता और सफलता का परिचायक है।

४

निबंध के समान संस्मरण की कला भी इन्होंने अपने ढंग से विकसित की है। इस ग्रंथ में मैथिलीशरण गुप्त पर लिखा गया इनका संस्मरण असाधारण सुंदर कहा जा सकता है। गुप्त जी के प्रति प्रारंभ से ही इनका आदर-भाव रहा है। उनके साथ इनका संपर्क भी इतना दीर्घकालीन और व्यापक था कि ये उनके स्वभाव के सभी पक्षों से परिचित हो गये थे। तीसरी भावना आत्मीयता की है। इससे यह भी झलकता है कि गुप्त जी किसी न किसी रूप में इन्हें प्रेरणा प्रदान करते थे। अतः आदर, अनुभव, आत्मीयता और प्रेरणा के सम्मिलित योग से यह संस्मरण बड़ा ही कलात्मक बन पड़ा है। गुप्त जी के संबंध में मैंने आज तक जितने भी संस्मरण पढ़े हैं—और उनमें 'पथ के साथी' में महादेवी जी द्वारा प्रस्तुत संस्मरण भी है—उनमें इसे सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। संस्मरण इन्होंने सुमित्रा-नंदन पंत और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के भी लिखे हैं; लेकिन उनमें यह बात नहीं पायी जाती। नगेंद्र जी धीरे-धीरे गुप्त-परिवार के एक सदस्य जैसे हो गये थे। अतः इसमें रक्षित सियारामशरण गुप्त के अंतिम दिनों की झाँकी भी काफ़ी मार्मिक बन पड़ी है। इसी प्रसंग में 'शिकायत है नगेंद्र को डॉ० नगेंद्र से' वाले लेख की चर्चा भी असमीचीन न होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने स्वभाव की दो विशेषताएँ इन्होंने बतलायी हैं : (१) अहंकार और (२) भावुकता। इस आत्म-विश्लेषण में इन्होंने अपने को टटोला तो है; पर खोला नहीं है, यहाँ तक कि अपने अहंकार और भावुकता के भी सभी पक्षों को उद्घाटित नहीं किया। यह तो एक सफल व्यक्ति का चित्र है, जहाँ दोष भी गुण बन जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य की आँखों में अपने दो चित्र रहते हैं—एक वह जो वह है, दूसरा वह जिसे ले कर वह चाहता है कि दूसरे लोग वैसा समझें। यह दूसरे प्रकार का चित्र है। एक बार मैंने श्री सुमित्रानंदन पंत से सहज भाव से कहा : आपने अपने संबंध में इतना लिखा है। उससे आपके गुणों पर तो प्रकाश पड़ता है; लेकिन दुर्बलताओं का पता नहीं चलता। पंत जी ने चट से उत्तर दिया : आखिर, हम अपनी बुराई क्यों करें!

५

अपने अभिभाषणों में डॉ० नगेंद्र ने शिक्षा, पाठ्य-क्रम, अनुसंधान, आलोचना एवं हिंदी-आंदोलन से संबंधित अनेक समस्याओं पर विचार किया है। अपने विचारों में ये कभी भी क्रांतिकारी अथवा प्रगतिशील नहीं रहे। हिंदी-आंदोलन के संबंध में इन्होंने घुमा-फिरा कर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि हमें शासन का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। आलोचना के संबंध में इनका मत है कि अध्यापक ही प्रायः श्रेष्ठ आलोचक होते आये हैं। महादेवी के साहित्य-चिंतन के गौरव को स्वीकार करते हुए इन्होंने एक बड़ी दिलचस्प बात कही है और वह यह कि वे भी तो अध्यापक हैं। श्रेष्ठ आलोचकों में इन्होंने कई गणमान्य आलोचकों को भुला कर, डॉ० धीरेंद्र वर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के नाम गिनाये हैं। अब यह अध्यापक-वर्ग के प्रति शुद्ध पक्षपात नहीं, तो और क्या है!

हिंदी के अनुसंधान-कार्य की प्रगति से डॉ० नगेंद्र बहुत संतुष्ट प्रतीत होते हैं और उसकी उन्होंने काफ़ी वक़ालत की है। यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है; फिर भी दूसरे पक्ष को हम अत्यंत संक्षेप में हिंदी के पाठकों के सामने रखना चाहते हैं। हिंदी में अब तक छः सौ के आसपास शोध-प्रबंध लिखे जा चुके हैं। निष्पक्ष भाव से यह कहा जा सकता है कि सन १९३४ में स्वर्गीय डॉ० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने 'हिंदी-काव्य में निर्गुण संप्रदाय' विषय पर जो प्रबंध प्रस्तुत किया था, उसकी टक्कर का प्रबंध अभी तक देखने में नहीं आया। इसका मूल कारण यह है कि एक-एक अध्यापक को इतने अधिक विद्यार्थी दे दिये जाते हैं कि वह उनका ठीक से पथ-प्रदर्शन कर ही नहीं सकता। कभी-कभी ये लोग ऐसे विषयों पर भी शोध कराते हैं, जिनसे उनका दूर का भी संबंध नहीं होता। आज के अनुसंधान-कर्ता को अपने निर्देशक से विशेष सहायता नहीं मिलती। वह केवल अपने परिश्रम और भाग्य के सहारे काम करता है। इसके लिए बाहर के विद्वानों और विशेषज्ञों का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इन शोध-प्रबंधों में स्वार्थ के कारण कहिए तो, भय के कारण कहिए तो, परीक्षकों के ग्रंथों से, चाहे वे किसी कोटि के हों, अनावश्यक रूप से संदर्भ जुटाये जाते हैं और उनकी कुछ इस रूप में प्रशंसा की जाती है, कि चाहे उन्हें खटकती हो अथवा नहीं, पर पढ़ने वाले पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। आज का शोध-प्रबंध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य कोटि का परिचय-ग्रंथ मात्र होता है। इसमें भी दोष शोधार्थियों का नहीं है। जिस विद्यार्थी ने अभी-अभी विश्वविद्यालय छोड़ा है, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि उसकी गवेषणात्मक अथवा आलोचनात्मक शक्ति विकसित हो गयी होगी; अतः ऐसा नियम बना देना चाहिए कि जब तक कोई प्राध्यापक तीन वर्ष तक अध्यापन का कार्य न कर ले, और पत्र-पत्रिकाओं में लेखन द्वारा अपने विषय की विशेष अभिज्ञता न प्रकट करे, तब तक उसे शोध करने की आज्ञा न दी जाय। इससे शोध-ग्रंथों का स्तर तो ऊँचा उठेगा ही, शोधार्थियों की भीड़ भी कुछ छँटेगी। इतना तो सभी जानते हैं कि शोध-प्रबंध आज कल किसी उच्चतर उद्देश्य के लिए नहीं, विश्वविद्यालयों में नौकरी पाने के लिए लिखे जाते हैं। इस प्रवृत्ति पर रोक लगानी चाहिए।

६

बीसवीं शताब्दी के आलोचकों में अभी तक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ही शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं। उनसे तो डॉ० नगेंद्र की तुलना नहीं की जा सकती; पर इन्हें बाबू श्यामसुंदरदास की परंपरा में रखा जा सकता है। इनके आलोचनात्मक लेख सुचिंतित, सुगठित और अपने में पूर्ण होते हैं। विश्लेषण इनका निर्भ्रांत, तर्कपुष्ट और दृष्टिकोण स्वच्छ रहता है। भाषा समर्थ है। लेकिन इन लेखों का ठोसपन कहीं-कहीं जड़ता की सीमा को स्पर्श करता है और अभिव्यक्ति की गंभीरता भारीपन में परिवर्तित होने लगती है। डॉ० नगेंद्र को तार्किक तो माना जा सकता है; लेकिन सहृदय नहीं। रस-सिद्धांत के समर्थक के निबंधों में राग-तत्व की कमी साहित्य-जगत की विडंबना ही मानी जायगी। इसके कई कारण हैं। एक तो ये कल्पना से बिल्कुल काम नहीं लेते। दूसरे विनोद-वृत्ति का इनमें भारी अभाव है। यह बात आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और इनके साहित्यिक निबंधों की तुलना से अच्छी तरह समझी जा सकती है। विचार के क्षेत्र में भी ये सब कुछ भौतिकवादी दृष्टिकोण से स्पष्ट करना चाहते हैं,—विशेष रूप से मनोविज्ञान का सहारा ले कर। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों में गहरी आस्था न होने से आचार्य रामचंद्र शुक्ल और पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के समान बहुत ऊँचे उठ कर उदात्त-भाव का रस ये नहीं प्रदान कर सकते। यह इनकी बड़ी भारी दुर्बलता है।

जहाँ तक इनकी साहित्यिक चेतना का संबंध है, वह छायावाद-युग से आगे नहीं बढ़ पायी। आज के युग में रस और अलंकार के प्रति अत्यधिक आग्रह प्रदर्शित करना अपने पिछड़ेपन का परिचय देना है। प्राचीन-साहित्य-शास्त्र के अध्ययन के लिए अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को समर्पित करने का आशय ही यह है कि हम समय के साथ नहीं चल सकते। आलोचक को तो अपने युग की नवीनतम प्रवृत्तियों को समेट कर आगे बढ़ना चाहिए। इनके निबंधों से यह स्पष्ट झलकता है कि आलोचना में ये टी० एस० इलियट को अंतिम प्रामाणिक समीक्षक मानते हैं। इस दृष्टि से परिणाम में कुछ अधिक लिखने पर भी समीक्षा के क्षेत्र में ये उतने भी आधुनिक नहीं हैं, जितने श्री अज्ञेय।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस सीमित क्षेत्र में श्री नगेंद्र ने काम किया है, वह अपने में महत्वपूर्ण है। कुल मिला कर ये आलोचक से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी श्रेष्ठ निबंधकार और निबंधकार से भी श्रेष्ठ संस्मरणकार हैं।

—विश्वम्भर 'मानव',
८८८, कल्याणीदेवी,
इलाहाबाद—३।

ललित गद्य की तीन कृतियाँ

रसरंग : डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की नवरस संबंधी कहानियों का संग्रह। बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना—४। सन १९६४। मूल्य : २.५०।

वियोग : डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के गद्यकाव्यों का संकलन। प्रकाशक : वहीं। सन १९६४। मूल्य २.००।

गीली आँखें : शिवचंद्र प्रताप के शब्द-चित्रों का संग्रह। प्रकाशक : वही। सन १९६४। मूल्य ३.००।

हिंदी गद्य के क्षेत्रमें अनेकानेक विधाओं का उन्नयन तो हुआ है पर उसके साथ यह भी सत्य विशेष रूप से ध्यातव्य है कि कहानी और उपन्यास को छोड़ कर अन्य विधाओं में समालोचना ही पूर्ण विकसित हो सकी है। लघु कथा, गद्य काव्य, रेखाचित्र आदि गद्य की विशिष्ट विधाओं का सम्यक विकास अभी तक नहीं हो सका है। लघुकथाएँ बंगला तथा मराठी में जिस प्रकार अपना स्थान रखती हैं तथा गद्यकाव्य और रेखाचित्रों का जो विस्तृत संगम अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में प्राप्त होता है वैसा हिंदी के गद्य-क्षेत्र में द्रष्टव्य नहीं है। इसका फल यह हुआ है कि जहाँ हिंदी कहानी, उपन्यास और आलोचना के क्षेत्र में नये प्रतिमानों की स्थापना हो सकी है वहाँ आज भी पिछले दशक की प्रगति-रेखा की मीमांसा के बाद यह सत्य प्रमाणित किया जा सकता है कि हिंदी के क्षेत्र में लघुकथा, संस्मरणात्मक रेखाचित्र तथा गद्यकाव्य की परिपाटी पुरानी ही रही है; इनमें लीक पीटने वाली परंपरा का ही बाहुल्य रहा है। यह काव्य जहाँ गद्य की इन विधाओं के निराशा-जनक भविष्य की इंगिति देने वाला है वहाँ इसका भी प्रमाण देता है कि इस दिशा में अच्छे लेखकों का अभाव रहा है। पिछली पीढ़ी में कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', रामवृक्ष बेनीपुरी, महादेवी, दिनेशनंदिनी डालमिया, उषा देवी मित्रा, बृजलाल बियाणी में हिंदी गद्य की यह विधा विशेष विकसित हुई है पर आज हिंदी में वैकुंठनाथ मेहरोत्रा, रावी, जगदीश, शांति मेहरोत्रा, राजेंद्र यादव, तेजनारायण काक आदि कुछ लेखकों को छोड़ कर अन्य कोई भी रचनाकार नज़र नहीं आता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि हिंदी गद्य की यह दिशा अभी तक नये प्रयोगों तथा उपलब्धियों के लिए प्रतीक्षित ही है। उपर्युक्त संदर्भ में ही यहाँ आलोच्य तीन कृतियों की समीक्षा प्रस्तुत की जा सकती है।

प्रथम कृति रसरंग, डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की नौ कहानियों (जिन्हें लघुकथाएँ ही कहें तो ज़्यादा अच्छा रहेगा) का संग्रह है। वैसे यह पुस्तक का तृतीय संस्करण है जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम संस्करण का प्रकाशन सं० १८८५ में हुआ था। इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने जो हिंदी जगत में शुक्लोत्तर समीक्षकों में विशिष्ट गौरव के अधिकारी रहे हैं 'नवरस' के अंतर्गत उदाहरणस्वरूप नौ कहानियों को प्रस्तुत किया है। ये कहानियाँ हिंदी लघुकथा के प्रारंभिक युग की देन हैं जिनमें भाषा के आडंबर के साथ शिल्प की प्राचीन सीमाएँ विशिष्ट रूप में दिखायी पड़ती हैं। शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत रस के परिवेश में लिखी गयी इन कहानियों में कथात्मकता और हिंदी कहानियों की किसी विशिष्ट भंगिमाओं की खोज करना हास्यास्पद ही लगता है। कारण, स्पष्ट है ये कहानियाँ जान-बूझ कर उदाहरणस्वरूप लिखी गयी हैं, जिनमें लक्षण-ग्रंथों की परिपाटी पर लक्ष्य ग्रंथों के विधान की दृष्टि का आभास मिलता है। वैसे, 'मिलन', 'बुढ़िया की मृत्यु', 'प्यास' इत्यादि कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं जो लेखक की प्रांजल भाषा का नैवेद्य उपस्थित करती हैं; इन कहानियों को पढ़ते समय समीक्षक 'सुधांशु' जी के आंतरिक स्वरूप का दर्शन अवश्य होता है, जो उनकी सहृदयता और रचनाकार की मृदुलता का परिचय देता है। हिंदी लघुकथाओं के बीच 'रसरंग' की इन कहानियों को सहज ही प्रारंभिक अवस्था की प्राणवंत रचना के रूप में परिगणित किया जा सकता है।

दूसरी कृति वियोग डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के गद्यकाव्यों का संग्रह है जिसमें 'अभाव की पूजा', 'स्मृति-चिंता', 'प्रकाश की रेखा', 'स्वप्न-दर्शन', 'पंचभूत', 'स्वार्थ की व्यापकता' और 'अनंत आसक्ति' नाम से करुण रस संबंधी गद्यकाव्य संग्रहीत किये गये हैं। सभी गद्यकाव्यों का मूलाधार लेखक की प्रियतमा, संगिनी की मृत्यु है जिसके वियोग में उसके उच्छ्वास का प्रकटीकरण हुआ है। आज के युग में जब अति भावुकता को साहित्य से निर्वासित करने का आंदोलन चल रहा है, 'वियोग' के गद्यकाव्यों का स्थान हिंदी के गद्य-क्षेत्र में क्या बना सकेगा, यह भी विचारणीय प्रश्न ही है या इतना मानना पड़ेगा कि 'वियोग' में मर्म की वेदना का जो आस्फालन तथा विवृत्ति दिखायी पड़ती है, वह यह सिद्ध करती है कि श्री 'सुधांशु' का रचनात्मक साहित्यकार प्रारंभ में अत्यंत प्राणवंत था। काश! उनकी लेखनी से इस प्रकार की कुछ और कृतियाँ भी लिखी जा सकतीं तो हिंदी का गद्य-साहित्य कभी उपलब्धियों को प्राप्त कर सकता। राजनीति की धूप-छाँह में भी 'सुधांशु' जी यदि अपने कलाकार के लिए कुछ क्षण चुरा सकें तो हिंदी लाभान्वित होगी, यह आशा की जा सकती है। 'वियोग' के गद्य-काव्यों को हिंदी के श्रेष्ठतम गद्यगीतों के बीच स्थान दिया जा सकता है, इसमें संदेह नहीं। कितने स्थलों पर पाठकों की आँखें अनजाने ही भींग उठेंगी तथा मन एक चिंतना से ग्रसित हो उठेगा, यह इन गद्यगीतों की विशिष्टता है।

तीसरी आलोच्य कृति श्री शिवचंद्र प्रताप के शब्द-चित्रों का संग्रह **'गीली आँखें'** हैं, जिसमें लेखक द्वारा लिखे गये ग्यारह शब्द-चित्र संग्रहीत किये गये हैं। साथ में शब्द-चित्रात्मक शैली में एक 'शब्द-चित्र और ये शब्दचित्र' शीर्षक भूमिका भी है जो लेखक की मान्यता से अधिक उसकी शैली की नाटकीय भंगिमा का विशेष परिचय देने वाली है। यदि इस भूमिका पर विशेष विचरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कर ग्यारह शब्द-चित्रों पर ही विचार किया जाय तो ज़्यादा समीचीन होगा। कारण स्पष्ट है, इन शब्द-चित्रों में ही लेखक की प्रतिभा का नवोन्मेष विशेष रूप से प्रकट हुआ है। 'गीली आँखें' के प्रत्येक शब्द-चित्र के साथ हिंदी के जाने-पहचाने लेखकों का एक प्रमाण-पत्र भी उपस्थित किया गया है, जो इन शब्द-चित्रों को पढ़ने के पूर्व ही लेखक की रचना की विशिष्टता को प्रमाणित करता दिखायी पड़ता है। इन प्रमाण-पत्रों के माध्यम से लेखक के शब्द-चित्रों के पाठकों को 'रसरंग' की तरह की अपेक्षित सरलता प्राप्त नहीं होती है वरन इससे 'रस-भंग' का ही आभास ज़्यादा होता है। वैसे शिवचंद्र प्रताप के ये शब्द-चित्र अच्छे बन पड़े हैं, जिनमें लेखक की शैली की चटुलता अपनी संपूर्ण कलाओं के साथ व्यंजित हुई है। मैं लेखक की इस दृष्टि से सराहना ही करना चाहूँगा। विशेष रूप से 'गीली आँखें' में संग्रहीत शब्द-चित्रों में 'तू भी आज को तो दूरे', 'एक कुत्ता, एक आदमी', 'परेशान रूहें', 'गीली आँखें' हिंदी के अच्छे शब्द-चित्रों के बीच स्थान पाने के योग्य हैं।

कुल मिला कर उपर्युक्त आलोच्य कृतियों को 'ललित गद्य' की कोटि की रचना मानते हुए इनका स्वागत हिंदी गद्य की महत्वपूर्ण किंतु उपेक्षित विधा के बीच किया जाना चाहिए। आशा है, हिंदी के लेखकों में इस दिशा की ओर भी नयी प्रगति-रेखा खींचने की प्रेरणा इन कृतियोंके पढ़नेके बाद मिल सकेगी।

—कृष्णनंदन 'पीयूष',
हिंदी विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर।

नये शिशु का जन्म

श्यामसुंदर घोष का कविता-संग्रह। प्रकाशक : गोड्डा (संथाल परगना)। सन् १९६४। मूल्य : २.००।

'नये शिशु का जन्म' श्यामसुंदर घोष की एक्यासी कविताओं का संग्रह है।

सांप्रतिक कवि दो वर्गों में बँटे हुए हैं—एक वर्ग गीत-कवियों का है और दूसरा नयी कविता के कवियों का। वर्गबद्धता के अनिवार्य परिणाम-स्वरूप कुछ कवि उभयनिष्ठ भी हो गये हैं जिनमें श्यामसुंदर घोष एक हैं। पर श्यामसुंदर घोष की उभयनिष्ठता इस प्रकार के अन्य कवियों से प्रकारतः भिन्न है। ऐसे अन्य कवि अपनी दोनों प्रकार की कविताओं में निजता का सूत्र नहीं पिरो पाते। श्यामसुंदर घोष की विशिष्टता इस बात में है कि इनके गीतों में नयी कविता की ताज़गी और नयी कविताओं में गीतों की तरलता है। यही कवि की शक्ति और आस्था की पहचान है। अतः न तो इनके गीत छायावाद के निर्जीव अवशेष लगते हैं और न इनकी नयी कविता ही नीरस गद्य हो गयी है।

पुस्तक के भीतरी आवरण पर पुस्तक के नाम के साथ कोष्ठक में लिखा हुआ है—'नये गीत : नयी कविताएँ'। 'नयी कविता' के मिथ्या सादृश्य पर कहानी और गीत को भी नया घोषित किया जा रहा है। 'नये शिशु का जन्म' के गीत भी नयापन के दावे को मिथ्या सिद्ध कर रहे हैं। 'आदिवासी अंचल की एक शाम', 'छोटा नागपुर के जंगलों की एक शाम',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत (पृ० १६), 'चाँद' आदि कविताएँ बिल्कुल छायावादी परंपरा में हैं। इनमें कोई प्राकारिक भिन्नता नहीं है। पर ऐसे गीतों में भी अनुभूति की निजता और नवीनता अवश्य है :

पेड़ों की गझिन डालियों से लुकता-छिपता
बँसवर को लाँघ, हाँसुली-सी नभ पर
दिपता आइने की तरह झिलमिलाया है
चाँद आया है चाँद—(पृष्ठ १७)

गीतकार के रूप में कवि की शक्ति ऐसे स्थलों पर देखी जाती है।

'नये शिशु का जन्म' में नयी कविताओं की संख्या अधिक है। ये कविताएँ शिल्प और भाषा की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं। शिल्प की दृष्टि से व्यातव्य है कि इन कविताओं में गद्य की स्थाणुता नहीं है। अधिकांश कविताएँ आद्यंत व्यापी रूपक के चौखटे में जड़ित हैं। इस रूप में ये कविताएँ बड़ी मनोहर हो गयी हैं। शिल्प की दृष्टि से दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कवि ने अभिव्यक्ति के लिए पौराणिक प्रतीक भी लाये हैं।

हर श्रेष्ठ कवि की भाषा पर उसकी मुहर लगी होती है। इस दृष्टि से 'नये शिशु का जन्म' से निराश होना पड़ता है। इस संग्रह की कविताओं के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि की भाषा का कोई रूप स्थिर नहीं हो सका है। यों, बोली के शब्दों के ग्रहण करने और शब्दों का नया प्रयोग करने की प्रवृत्तियाँ कवि में देखी जाती हैं :

बगीचे की कली, पत्ती, घास, फुनगी
आ जुटी हैं
एक-दूजे पर चढ़ी-सी उझक कर के झाँकती
हैं (पृष्ठ ९)

मैं यहाँ पर आ गया हूँ
क्योंकि तुमने निषेधा था (पृष्ठ ६२)

और, ऐसी भाषा भी दिख जाती है :

मित्रों से बातें कर सकता है
नावेल, स्टोरी जो चाहे पढ़ सकता है—
(पृष्ठ ५८)

कविताओं के साथ रचना-काल दे कर उसी के क्रम से संकलित किया जाता तो कवि के विकास की दिशा को समझने तथा उसके विकासात्मक अध्ययन करने में सुविधा होती।

पुस्तक का आवरण सुंदर और मुद्रण संतोषजनक है।

—सियाराम तिवारी,
हसनपुर, चाँईटोला,
पटना-४।

चमगादड़

जी० जाषुवा का काव्य-ग्रंथ। अनुवादक : राममूर्ति 'रेणु'। आदान-प्रदान पुस्तक-माला, हैदराबाद। मूल्य : २.५०।

प्रस्तुत काव्य श्री जाषुवाकृत तेलुगु-काव्य 'गब्बिलमु' का हिंदी अनुवाद है। दलित वर्ग के प्रतिनिधि कवि, 'नवयुग कवि चक्रवर्ती', 'कवि दिग्गज', 'मधुर श्रीनाथ', 'कविता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशारद' आदि अनेक उपाधिभूषित श्री गुर्रम जाषुवा वर्तमान तेलुगु-साहित्य के विशिष्ट सम्मानित कलाकार हैं।

इस काव्य में कवि ने चमगादड़ रानी को दूत बना कर एक हरिजन की करुण कथा हिमवान के जामाता भगवान शंकर तक भेजी है। इस बहाने यह दूतकाव्य 'मेघदूत' की शैली में 'तंजावूर' से ले कर नगाधिपति हिमालय तक के विस्तीर्ण भूखंड का काव्यमय चित्र प्रस्तुत करता है।

विषय-वस्तु के अनुरूप कवि ने माध्यम का चुनाव अत्यंत सावधानी से किया है क्योंकि :

पंखी-पखेरू को तज कर के अति हीनों के
अन्य सगे-संबंधी आप्त-जन कहाँ होंगे ?

काव्य दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में आंध्र प्रदेश का सांस्कृतिक चित्रण बहुत विस्तार तथा मनोयोग से किया गया है। प्रसिद्ध राजाओं, कवियों, विद्वानों, वीरों एवं राजधानियों के उत्थान-पतन की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत की गयी हैं :

कंचर्ला, नरपति श्रीकृष्ण का सुशासित पुर,
लांगल से जोत धान की खेती, डाला, कर।
विनुकोंडा नृपति राय भास्कर का दुर्ग ढहा,
बुर्ज सब मिट्टी में मिला दिये, सुदृढ़ अहा !
पलनाडु नरेशों की भव्य-प्रताप-ज्वाला
को अनुपम नागलेरु-धार में बुझा डाला।

इन चित्रणों के साथ जटित, प्राकृतिक सौंदर्य-वर्णन काव्य की रमणीयता और अधिक बढ़ा देते हैं :

चमगादड़ संतति की देवी ! मोटे शरीर,
घनी जटाएँ लंबे केशों की, प्रखर तीर
जैसे सींग लिये, रहते अजीब सिंहो से,
गिरि तरुइयों, झरनों के भीट्टों में भैंसे।

इस प्रकार हिमालय की प्रकृति-श्री का दर्शन कराते हुए कवि पाठक को तिब्बत तक ले जाता है :

मेघों से उड़ कर गमन करो आगे को।
गोचर होगा त्रिविष्ट, इंद्रपुरी आँखों को,
जहाँ आज दिन 'दलाइलामा' नामक विचित्र
नेता करते रहते हैं शासन सच्चरित्र।

इस विशाल भाव-पट पर कवि ने द्वितीय खंड में भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का सजीव चित्र उपस्थित किया है :

करता युग-गर्जन यों चर्खा डंडा ले कर
बनिया बूढ़ा गुजराती एक हुआ गोचर।

इसी प्रसंग में कवि वल्लभभाई पटेल, जवाहरलाल नेहरू एवं अंबेदकर का परिचय भी देता है। कहने का तात्पर्य यह कि द्वितीय खंड देश की राजनीति के आलोक में मानव-मूल्यों का पुनः निरीक्षण है। फलतः अंध-विश्वास, जड़ता तथा सामाजिक बुराइयों पर कस कर प्रहार किये गये हैं। चमगादड़ रानी के लौटने पर हरिजन पूछता है :

नव-नव सिद्धांत, अंधविश्वासों में फँस कर
अपनी खिचड़ी अलग पकाने वाले तस्कर-
स्वार्थी लोगों को देखा क्या ? जो घुसते हैं !
जनता में, उनके मन कलुषित कर डसते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल काव्य की रचना आज से पैंतीस वर्ष पूर्व हुई थी, अतएव तत्कालीन वातावरण से वर्तमान परिवेश यत्किंचित भिन्न होना स्वाभाविक है। लेकिन मूल संवेदन में कोई प्रधान अंतर अभी नहीं आ सका है, अस्तु, हरिजन की करुण दशा हृदयंगम करने में काव्य-मर्मज्ञों को यह काल-दूरी बाधक नहीं होगी, ऐसा विश्वास है। प्रादेशिक भाषाओं के ग्रंथ-रत्नों का हिंदी में अनूदन अभिनंदनीय कार्य है। इस दृष्टि से भाषा संबंधी कुछ त्रुटियों के होते हुए भी अनुवादक महोदय बधाई के पात्र हैं। पुस्तक के अंत में सांस्कृतिक नामों का परिचय दे कर काव्य की उपयोगिता और भी बढ़ा दी गयी है।

—मोहन अवस्थी,
प्रयाग विश्वविद्यालय,
प्रयाग।

पद्माकर

श्रीराम शर्मा द्वारा संपादित पुस्तक। आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद। मूल्य : ६.००।

प्रस्तुत पुस्तक में उन लेखों को संकलित किया गया है, जो विशिष्ट विद्वानों द्वारा फ़रवरी, १९६५ में हैदराबाद में संपन्न होने वाली संगोष्ठी में पढ़े गये थे। प्रारंभ में संगोष्ठी में होने वाली गोष्ठियों का पूरा विवरण दिया गया है।

साहित्य अकादमियाँ इधर अच्छा काम कर रही हैं। इन अकादमियों के द्वारा विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य की अच्छी सेवा हो रही है। आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी ने आंध्र के हिंदी लेखकों की संगोष्ठी की व्यवस्था कर तथा उस संगोष्ठी के विवरण को इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर एक अनुकरणीय कार्य किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में १४ निबंध संग्रहीत हैं जो तेलुगु-साहित्य की विभिन्न विधाओं का परिचय तो देते ही हैं, साथ ही तेलुगु और हिंदी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करते हैं। संपूर्ण पुस्तक को पढ़ जाने के बाद पाठक के सामने यह सत्य अपने प्रखर रूप में प्रस्तुत हो जाता है कि भाषाओं की विभिन्नता ने हमारे भारतीय साहित्य की चिंतनधारा को, भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा को विभक्त नहीं होने दिया है। जो बात इस ग्रंथ द्वारा हिंदी और तेलुगु के संबंध में स्पष्ट होती है, वही बात सभी भारतीय भाषाओं के संबंध में सिद्ध है। भारतीय भावना सर्वत्र एक है, परिधान भर परिवर्तित हुए हैं।

इस प्रकार के ग्रंथ हमें दूसरे प्रदेश के साहित्य की जानकारी ही नहीं देते, प्रदेश-प्रदेश के मध्य स्थित निकटता का सुंदर परिचय देते हैं। आज के युग में इस प्रकार के ग्रंथों के संपादन और प्रकाशन की अत्यधिक आवश्यकता है।

पुस्तक का नाम थोड़ा भ्रामक है। 'पद्माकर' नाम देख कर पाठक का यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि वह इसमें पद्माकर संबंधी कुछ विशेष जानकारी प्राप्त करेगा। किंतु ऐसा होता नहीं। पद्माकर पर स्वतंत्र रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक निबंध इस संग्रह में स्थान पाता तो 'पद्माकर' नाम की कुछ तो सार्थकता सिद्ध होती।

पुस्तक की छपाई, गेटअप, कागज़ आदि सुंदर है। ऐसी सुंदर पुस्तक के संपादन और प्रकाशन के लिए संपादक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

—रामेश्वर दयाल दुबे,
राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,
वर्धा।

पत्र-प्रतिक्रियाएँ

'माध्यम' के अक्तूबर अंक में प्रकाशित निबंध 'तीन छोटी हिंदी कविताएँ' विशेष रूप से पसंद आया। रचना-प्रक्रिया से हो कर अर्थान्विति तक पहुँचने का श्री लुट्से का यह प्रयास स्तुत्य है। और अच्छा होता जो वे अपने विश्लेषण-वृत्त के कुछ विस्तार की बात सोचते और समय-समय पर जर्मन कविता की समसामयिक धारा से भी (सामान्य पाठक को) परिचित कराते चलते।

विवेचना का गोष्ठी-प्रसंग नियमित रूप से चलाते रहें। 'माध्यम' की यह एक निजी उपलब्धि है। और छाया कविताओं की जगह स्वस्थ और स्वतंत्र कविताओं को ही (इनकी आज कमी नहीं है) दें तो आज की हिंदी कविता का विशेष उपकार हो। इधर की कुछ कविताओं को (खास कर महिला कवयित्रियों, जैसे सुश्री प्रेमलता वर्मा और शुभा वर्मा की कविताएँ) देख कर ऐसा लगता है कि शमशेर या अज्ञेय किसी न किसी रूप में उन पर हावी हैं। मेरा ख्याल है, वे औरों के आईने में झाँकने के बदले अपने आईने में देखा करें तो उन्हें अपना चेहरा ज्यादा खूबसूरत नज़र आये।

'माध्यम' के वार्षिक मूल्य में वृद्धि का निर्णय संतोषजनक, कम से कम इस आश्वासन को ले कर है कि 'माध्यम' अभी चलेगा।

—कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह,
कलकत्ता।

श्री बालकृष्ण जी एकमात्र ऐसे सम्मान्य साहित्यिक-पत्र-संपादक हैं जो किसी भी प्रकार की दलबंदी में न पड़ कर हिंदी की निर्व्याज सेवा में तत्पर हैं। यही वजह है कि 'माध्यम' अपना स्तर अभी तक ज्यों का त्यों रख पा रहा है और मुझे अन्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की अपेक्षा प्रिय है।

—पृथ्वीनाथ शास्त्री,
कलकत्ता—३३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार नियोजन क्या है ?

यह एक ऐसा जरिया है, जिसके द्वारा आप

- आसानी से यह फैसला कर सकते हैं कि आपको कब और कितने बच्चे चाहियें ?
- अपनी पत्नी की तन्दुरुस्ती बनाये रख सकते हैं।
- अपने बच्चों की तन्दुरुस्ती; उनकी शिक्षा और लालन-पालन की देखभाल अच्छी तरह कर सकते हैं ।
- अपने विवाहित जीवन का पूरा आनन्द किसी भय या परेशानी के बिना ले सकते हैं ।

परिवार नियोजन के अनेक तरीके हैं और आप उनमें से किसी एक को अपना सकते हैं ।

मुफ्त सलाह और सेवा
के लिये किसी भी परिवार
नियोजन केन्द्र में जाइये ।

डी ए ६६/३०७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों के अनवद्य काव्य-संकलन

आधुनिक कवि, भाग १	श्रीमती महादेवी वर्मा	रु० ३.००
आधुनिक कवि, भाग २	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	रु० ३.००
आधुनिक कवि, भाग ३	डॉ० रामकुमार वर्मा	रु० २.५०
आधुनिक कवि, भाग ४	ठा० गोपालशरण सिंह	रु० २.५०
आधुनिक कवि, भाग ५	श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	रु० ४.००
आधुनिक कवि, भाग ६	श्री माखनलाल चतुर्वेदी	रु० ३.००
आधुनिक कवि, भाग ७	डॉ० हरिवंश राय 'बच्चन'	रु० ३.००
आधुनिक कवि, भाग ८	श्री रामनरेश त्रिपाठी	रु० ३.७५
आधुनिक कवि, भाग ९	श्री नरेन्द्र शर्मा	रु० ३.००
आधुनिक कवि, भाग १०	श्री भगवतीचरण वर्मा	रु० ३.००
आधुनिक कवि, भाग ११	श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	(प्रेस में)
आधुनिक कवि, भाग १२	श्री गुरुभक्त सिंह 'भक्त'	(प्रेस में)

कवियों द्वारा ही उनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन करा कर सम्मेलन ने ये उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। संकलन के साथ कवियों ने अपने काव्य-सिद्धान्तों एवं काव्य-प्रवृत्तियों पर स्वयं की लिखी भूमिका भी दी है। आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रकृतियों को जानने के लिए इन काव्य-संकलनों का अध्ययन अनिवार्य है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजिस्टर्ड नं० एल० २११७

हिन्दी भाषा और भाषा विज्ञान पर उत्कृष्ट ग्रंथ : नये प्रकाशन

सामान्य भाषा-विज्ञान : डॉ० बाबूराम सक्सेना

यह पुस्तक भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों और भाषाओं के इतिहास तथा वर्गीकरण का उत्कृष्ट विवेचन है। अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में है। मूल्य रु० ७.००।

दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास : डॉ० श्रीराम शर्मा

'दक्खिनी हिन्दी' हिन्दी भाषा का ही एक स्वरूप है। आज की हिन्दी के इतिहास से हम पूर्णतया तभी अभिज्ञ हो सकते हैं जब हिन्दी के इस रूप और उसके साहित्य से भी हमारी जानकारी हो। विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक में 'दक्खिनी हिन्दी' का भाषागत अनुशीलन एवं प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत कर हिन्दी जगत् के एक बड़े अभाव को पूरा किया है। हिन्दी भाषा के इतिहास के प्रति जिज्ञासा रखने वाले स्नातकों के लिए पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। मूल्य रु० १२.००।

हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप : डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

इस पुस्तक में हिन्दी और उसकी अंगभूत नौ उपभाषाओं का भाषागत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आज तक के एतद्विषयक अनुशीलनों से लाभ उठाकर लेखक ने इस अध्ययन को सर्वथा नवीन और अद्यतन बना दिया है। मूल्य रु० १०.००।

बुलन्दशहर और खुर्जा तहसीलों की बोलियों का सांकालिक अध्ययन : डॉ० महावीरसरन जैन

111059

यह ग्रंथ बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक अनुशीलन है। (शीघ्र प्रकाशित हो रहा है)

हिन्दी भाषा का तात्विक विकास : डॉ० शिवनाथ

हिन्दी भाषा के अर्थ-विचार पर वैयाकरणिक एवं भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। (शीघ्र प्रकाशित होगा)

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar